दूरस्थ शिक्षा
स्व. अध्ययन सामग्री

पाठ्यक्रम का नाम	–	एम. ए. पूर्वार्द्ध हिन्दी
प्रश्नपत्र क्रमांक	–	चतुर्थ प्रश्न पत्र (विशेष कवि)
वर्ष	–	2018–19
प्रश्नपत्र का शीर्षक	–	हिन्दी साहित्य, मूक माटी महाकाव्य
संपादक	–	डॉ के. एन. गोस्वामी, एसो. प्रोफेसर, सेवानिवृत

भूमिका

हिन्दी साहित्य में संत काव्य परम्परा की महती भूमिका रही है। आदिकाल में तीन धारायें– सिद्ध साहित्य धारा, जैन साहित्य धारा और नाथ साहित्य धारा – प्रकाश में आयीं। इन धाराओं का उद्देश्य अपने साहित्य द्वारा दुखित आत्माओं को शाश्वत सुख उपलब्ध कराना था। इन्होंने मोक्ष–प्राप्ति के लिए काम, क्रोधादि के त्याग को अपेक्षित माना है। इन धाराओं के साहित्य में अहिंसा, दया, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, दानवृत्ति आदि का संदेश है। सिद्ध और नाथ धारा के कवियों ने आत्मा–परमात्मा के मिलन के लिए हठयोग का आश्रय लिया किंतु जैन संतों ने अपनी आचार पद्धति के माध्यम से आध्यात्मिक कल्याण का मार्ग दर्शाया। इसके लिए उन्होंने दुर्व्यसनों से बचने, प्राणी रक्षा, पर सेवा आदि के कार्यों को करने की प्रेरणा दी है।

जैन संत काव्य परम्परा को विकसित करने में मुनि क्षमा सागर, मुनि समता सागर, मुनि तरूण सागर आदि का उल्लेखनीय योगदान रहा। इनमें आचार्य विद्यासागर जी की विशिष्ट भूमिका रही है। इनकी सशक्त कविताएँ संपूर्ण हिन्दी साहित्य की अमूल्य निधि भी बन गयी हैं। इनकी लगभग बारह काव्य कृतियाँ प्रकाश में आयी हैं। इनमें श्री शान्ति सागर जी महाराज की स्तुति, श्री वीर सागर स्तुति, आचार्य शिव सागर स्तुति, ज्ञान सागर स्तुति, शारदा स्तुति, निजानुभव शतक, दोहा दोहन, नर्मदा का नर्मकंकर, तोता क्यों रोता, मुक्तक शतक, पूर्णोदय शतक और मूकमाटी रचनाएँ उल्लेखनीय हैं। 'मूकमाटी' महाकाव्य की कोटि में आता है। इसमें अनुभूति की गहनता और अभिव्यक्ति का वैशिष्ट्य विद्यमान है। भाषा और शैलीगत विशेषतायें इस कृति को बोधगम्य बना देती हैं। इसमें लोक कल्याण के आदर्श को अत्यन्त प्रौढ़ चिन्तन के साथ प्रस्तुत किया गया है। प्रसिद्ध आलोचक डॉ. परमेश्वर दत्त शर्मा का यह कथन सत्य ही है कि मूकमाटी एक महाकाव्य ही नहीं, अपितु धर्म, दर्शन, अध्यात्म तथा चेतना का अभिनव शास्त्र है। यह आधुनिक युग की मनुस्मृति और गीता भी है।

निःसंदेह आचार्य विद्यासागर कृत 'मूकमाटी' महाकाव्य आध्यात्मिक और लौकिक जगत के लिए वरदान है। इसके अध्ययन से मानव जीवन को दिशा मिलेगी। कर्तव्य–अकर्तव्य का बोध होगा तथा भारतीय संस्कृति का संरक्षण होगा।

अतः कहा जा सकता है कि एम.ए.पूर्वार्द्ध हिन्दी साहित्य के पाठ्यक्रम में आचार्य विद्यासागरजी के 'मूकमाटी' महाकाव्य का अध्ययन विद्यार्थियों के लिए ज्ञानवर्धक और

उपयोगीहै। ऐसा विश्वास है कि इसके पठन–पाठन से मानव और समाज का ही कल्याण नहीं होगा वरन् राष्ट्रोन्नति का मार्ग भी प्रशस्त होगा।

डॉ.कौशल नन्दन गोस्वामी
संपादक

यूनिट 1–अ
हिन्दी संत काव्य परंपरा

हिंदी साहित्य में संत काव्य परंपरा का सूत्रपात आदिकाल में ही हो गया था। इस काल में संतों की तीन धारायें दिखलाई देती हैं, सिद्ध साहित्य धारा, जैन साहित्य धारा, नाथ साहित्य धारा। सिद्ध, जैन तथा नाथ तीनों धाराओं के संत कवियों ने चौरासी लाख योनियों में दुःख भोगती आत्मा को शाश्वत सुख उपलब्ध कराने की प्रेरणा से ही अपनी साहित्य रचना प्रस्तुत की है। सिद्ध, जैन और नाथ कवियों की मोक्ष संबंधी मान्यताओं में पर्याप्त भेद हैं। लेकिन तीनों धाराओं के कवि इस बात में विश्वास करते हैं कि काम, क्रोध, लोभ और मायाचार से बचे बिना मोक्ष की प्राप्ति नहीं होगी। अतः इन कवियों ने इन मोक्ष विरोधी भावनाओं से बचने पर बल दिया है। तीनों धाराओं के कवियों ने सांसारिक भोग इच्छाओं को दुःख रूप माना है। अतः इनके काव्य में इंद्रिय इच्छाओं को नियंत्रित करने के जो उपाय बताये गये हैं वे एक ओर तो मोक्ष सुख की ओर बढ़ने में सहायक हैं, दूसरी ओर सामाजिक सुख शांति और व्यक्तिगत मानसिक शांति के लिये महत्वपूर्ण हैं। इन संत कवियों के अनुसार मोक्ष प्राप्ति के मार्ग में हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह रूप पाप सबसे बड़ी बाधायें हैं। इनसे बचने के लिये संत कवियों ने जीव–दया, सत्य, अचौर्य व्रत और ब्रह्मचर्य तथा दानवृत्ति अपनाने का संदेश दिया है। तीनों धाराओं के संत कवि मोक्ष की प्राप्ति में मद्य–मांस सेवन, जाति–पाँति, कुल प्रतिष्ठा का घमंड, छुआछूत और सांसारिक भोगों के प्रति लोभ लालच की प्रवृत्ति को बाधक मानते थे। अतः इन कवियों ने इनसे संबंधित सामाजिक रीति–रिवाजों का भी विरोध किया। सिद्ध एवं नाथधारा के कवियों ने आत्मा को परमात्मा से मिलाने के लिये हठयोग के सिद्धांत को अपनाया है और हठयोग साधना के रहस्यात्मक अनुभवों का वर्णन उलटवासी नामक प्रतीक पद्धति के माध्यम से किया है। उलटवासी नामक इस प्रतीक पद्धति में अनेक स्थलों पर शब्दार्थ तो असंभव विसंगतिपूर्ण यहाँ तक कि अश्लील और सामाजिक संस्कृति के विरूद्ध अर्थ निकलते हैं किन्तु, उनके प्रतीक अर्थ सात्विक साधना के अनुभवों से संबंधित होते हैं। इस विचित्र प्रणाली का आश्रय लेने के कारण अल्प–शिक्षित या प्रतीक पद्धति से अपरिचित लोगों में विपरीत प्रभाव भी पड़ा। इसलिये जैन आध्यात्मिक कवियों ने उलटवासी पद्धति की अश्लील प्रतीक योजना का त्याग किया है। जैन संतों की वाणी में अभिव्यक्ति के लिये लोक–नीति के अनुकूल प्रतीक सामग्री ली गई है।

सिद्ध, नाथ, शैव और जैन संतों ने आध्यात्मिक कल्याण के लिये जो आचार पद्धति प्रस्तावित की उनसे आध्यात्म साधना के साथ–साथ इहलौकिक कल्याण के तत्व भी मिल जाते हैं। इन संत कवियों ने अपने काव्य के माध्यम से शिकार और मांसाहार का त्याग, नशीले

पदार्थों से मुक्ति, जुआ, चोरी, परस्त्रीगमन आदि दुर्व्यसनों से बचने की भावना भी कविताओं में प्रस्तुत की है। इन संत कवियों ने प्राणी रक्षा, स्वाध्याय, सादा–जीवन, परसेवा, दानवृत्ति के कार्यों में लगकर जीवन चर्या बिताने का संदेश भी कविताओं के माध्यम से दिया है।

भक्तिकालीन संत काव्य धारा :भक्तिकाल में कबीर, तुलसी, जायसी आदि सभी कवियों ने पूर्व संत कवियों की भाँति मूल उद्देश्य के रूप में आत्मा को मोक्ष दशा में पहुंचाना माना है। इन्होंने जीवन साधना की दो अवस्थाएँ निर्देशित की हैं प्रथम सन्यास अवस्था, द्वितीय गृहस्थ अवस्था। इनके अनुसार सदगुणों को विकसित करके श्रेष्ठ गृहस्थ अवस्था के धर्म को निभाकर सन्यास अवस्था के धर्म मार्ग पर चला जा सकता है।

भक्तिकाल में संत कवियों की चार धाराएँ दिखाई देती हैं। निर्गुण प्रेम मार्गी, निर्गुण ज्ञानमार्गी, सगुण रामभक्ति, सगुण कृष्णभक्ति इसके समानान्तर ही जैन संतों एवं सूफी–संतों की काव्य प्रवृत्तियाँ भी विकसित होती रहीं। इन संत कवियों ने निम्नांकित प्रवृत्तियों को काव्य के माध्यम से अभिव्यक्त किया है –

गुरू भक्ति – कबीर आदि निर्गुण धारा के कवियों ने गुरू भक्ति को आत्मा के कल्याण तथा इहलौकिक हित दोनों दृष्टियों से परम उपयोगी निरूपित किया है। कबीर कहते हैं एक बार परमात्मा रूठ जाये तो गुरू के आश्रय से हम दुःखबंधन से अपनी रक्षा कर सकते हैं किन्तु यदि गुरू रूठ जाये तो हमें संसार के दुःखों से बचाने वाला कोई ठिकाना नहीं मिलेगा।

कबीरा ते नर अंध है गुरू को कहते और,
हरि रूठे गुरू ठौर है गुरू रूठे नहिं ठौर।

निर्गुण निराकार ब्रह्म का चिंतन – कबीर, दादू, नानक आदि कवियों ने निर्गुण ब्रह्म की उपासना के लिये नाम स्मरण का सहारा लिया है। उनके अनुसार, राम जिस तरह सगुण के लिये आश्रय हैं उसी तरह निर्गुण की उपासना के आधार भी हैं। निर्गुण ब्रह्म को छोड़कर जो लोग अन्य देवी देवताओं को सही मानते हैं उन्होंने उनका मजाक उड़ाया है।

परमात्मा तत्व से एकनिष्ठता से प्रेम करना – निर्गुण धारा के संत कवियों ने परमात्मा प्राप्तिके लिये पतिव्रता स्त्री की तरह एक निष्ठ प्रेम को आवश्यक माना है। वे कहते हैं कि जिस तरह पतिव्रता स्त्री में अपने पति को पाने की ललक होती है, वैसी ही ललक भक्त में परमात्मा को पाने की होनी चाहिये।

प्रीति जो मेरे पति की पैठी पिंजर माँहि,
रोम रोम पिव पिव करै दादू दूसर नाहिं।

साधु संगति : निर्गुण संत कवियों ने आत्म–पर–कल्याणकारी गुणों के विकास हेतु निःस्वार्थी सज्जनों की संगति को अनिवार्य माना है। कबीरदास कहते हैं कि वही दिन सार्थक है जिस दिन संत मिलन हो। संत मिलन से ही हमारे दुर्गुण और पाप दूर होते हैं।

धन का पूर्ण त्याग – कबीर आदि निर्गुण संत कवियों ने यह भाव जाग्रत किया है कि श्रेष्ठ संत वही है जिसने धन का पूर्ण त्याग किया हो। उनके अनुसार सच्चा संत अपनी गांठ में किंचित दाम नहीं रखता वह पूर्णतया अपरिग्रही अर्थात धन का त्यागी होता है।

काम वासना पर विजय : निर्गुण संत कवियों ने नारी के प्रति आकर्षण पर विजय प्राप्त करना साधु के लिये अनिवार्य माना है। इनके अनुसार नारी आकर्षण से विचलित व्यक्ति कल्याणकारी संत नहीं हो सकता। जिस तरह वृक्ष जितने भी फलों का उत्पादन करता है, उन्हें स्वयं नहीं चखता, बल्कि अन्य प्राणियों के लिये समर्पित कर देता है। इसी प्रकार सच्चा साधु भी दानवृत्ति को अपनाता है। दादू, दयाल ऐसे परोपकारी साधु की भक्ति में अपने को डुबोकर पवित्रता धारण करना चाहते हैं।

साधु नदी जल रामरस तहां पर वासे अंग,
दादू निर्मल हो गया साधु जन के संग।

अहंकार का त्याग : निर्गुण संत कवियों ने अहंकार के भावना को त्याग का आदर्श भी समाज के सामने रखा है। अहंकार, मान, घमंड आदि को छोड़ना बड़ा कठिन है। इसलिये संत कवियों ने इन्हें जीतना बड़ी बहादुरी माना है। उनके अनुसार सूरमा वही है, जिसने अहंकार को जीत लिया हो। दरिया साहब कहते हैं –

दरिया सांचा सूरमा सहै शब्द की चोट,
लागत ही भाजै भरम निकस जाये सब खोट।।

शारीरिक कष्टों से नहीं डरना – निर्गुण संत कवियों ने यह प्रतिपादित किया है कि सच्चा साधक वही है जो ब्रह्म प्राप्ति की साधना में शारीरिक मानसिक कष्टों को सहन करते रहते हैं, वे प्राणों का मोह त्याग कर साधना के क्षेत्र में डटे रहते हैं।

सूरा तब ही परखिये लड़े धनी के हेत,
पुरजा पुरजा व्है पड़े तऊ न छाड़े खेत।।

सत्य धर्म पालन की भावना : संत कवियों ने सत्य आचरण को पारलौकिक कल्याण के लिये परम आवश्यक माना है। कबीर कहते हैं कि जो व्यक्ति सच्चाई पर अडिग रहता है उसे न तो काल खा सकता है और न किसी देवी देवता या रौद्र ध्यान करने वाले का शाप लग सकता है।

विनय भावना : निर्गुण संत कवियों ने संत के लिये विनय भावना भी अनिवार्य मानी है। उनके अनुसार जो लोग भक्ति या ज्ञान का भी घमंड करते हैं उनका उद्धार भी संभव नहीं है। इसके

विपरीत साधारण व्यक्ति भी विनयशील पुत्र की त्रुटियों पर ध्यान नहीं देते और उसका कल्याण करते हैं। उसी प्रकार परमात्मा भी विनयशील साधक की मदद करते हैं।

लोभ त्याग की भावना : निर्गुण संत कवियों ने धन–वैभव के लोभ को संसार में जनम–मरण का प्रमुख कारण माना है। इसलिये वे कहते हैं कि माया रूप तृष्णा,लोभ, धन, वैभव–लिप्सा त्यागे बिना सांसारिक दुःखों से स्थाई मुक्ति नहीं हो सकती।

माया मुई न मन मुआ, मर मर गया शरीर।
आशा तृष्णा न मुई, यूं कह गया कबीर।।

मन की इच्छाओं को वश में रखना : निर्गुण संत कवियों के अनुसार मनुष्य का मन मतवाले हाथी की तरह चंचल व विनाशकारी है। यदि उस मन पर अंकुश नहीं लगाया गया तो, अहित की कल्पना नहीं की जा सकती।

मैंमंता मन मारि रे नान्हा करि करि पीस,
तब सुख पावै सुंदरी, ब्रह्म झलके सीस।।

प्रचलित धार्मिक एवं सामाजिक कुरीतियों का विरोध : सिद्धों और नाथों की तरह निर्गुण संत कवियों ने भी ऐसी उक्तियाँ प्रचुर मात्रा में लिखी हैं, जो समाज में प्रचलित अंध–विश्वासों और कु–प्रथाओं को हटाती हैं। यद्यपि, ये उक्तियाँ अध्यात्म मार्ग पर लाने के लिये लिखी गई हैं किन्तु इनसे समाज की लौकिक सुख शांति भी बढ़ती है।

ऊपरी भेष और बाह्याचारों को भी मुख्य धर्म समझने की धारणा का विरोध : निर्गुण धारा के कवियों ने मूर्ति पूजा, टीका, तिलक, तीर्थाटन, गंगास्नान, मुंडन, जनेऊ आदि कर्मकांडों को सबकुछ मानने का विरोध किया है। उनके अनुसार, आतंरिक शुद्धि अर्थात इच्छा निरोध काम–क्रोध–लोभ को जीतना, दया–परोपकार आदि ही प्रमुख धर्म हैं। अतः इनको उपेक्षित कर बाह्य आचारों एवं आडंबरों को धर्म मानना सच्चे धर्म से भटकना है। कबीर कहते हैं –

पाथार पूजे हरि मिले मैं पूजूं पहार।
यासे तो चाकी भली पीस खाये संसार।।
दादू कोई दौड़े द्वारका कोई कासी जाहि।
कोई मथुरा को चले साहब तो घट मांहि।।

बैर भाव पर विजय और करूणा को अपनाने का भाव : निर्गुण संत कवियों ने समस्त जीवों को एक ही परमात्म तत्व का अंग माना है, इसलिये अन्य जीवों के प्रति परस्पर बैर–भाव का त्याग कर अनुकंपामय प्रवृत्ति धारण करने की भावना उद्वेलित की है।

शास्त्र ज्ञान की अपेक्षा शुभ कामों में आस्था : निर्गुण संत धारा के कवियों ने यह प्रतिपादित किया है कि यदि किसी को काढ़े के गुण याद हैं और वह उसका सेवन नहीं करता तो वह निरोग नहीं हो सकता। इसी प्रकार वेद–पुराणों में ब्रह्म के बारे में उसकी प्राप्ति के उपायों के संबंध में अध्ययन कर लिया और उपदेश भी देने लगे किंतु यदि उन शिक्षाओं का आचरण

नहीं किया तब वह सब व्यर्थ है। संत कवियों के अनुसार कम पढ़ा लिखा व्यक्ति भी यदि धर्म के अनुसार आचरण करता है, तो वह पंडितों से श्रेष्ठ है।

वैचारिक समता और मित्रता : संत कवियों ने यह प्रतिपादित किया है कि धर्म संप्रदाय और जाति तथा कुल के आधार पर कोई ऊंच या नीच नहीं होता। अतः किसी से घृणा नहीं करना चाहिये, सदाचरण के आधार पर सबके प्रति मैत्री भाव रखना ही उचित है।

रूप–मद, बल–मद, वैभव–मद, ज्ञान–मद, धर्म–मद का त्याग : संत काव्य धारा के कवियों ने यह भाव प्रगट किया है कि इनमें से संबंधित किसी भी प्रकार की श्रेष्ठता का घमंड व्यक्ति को धर्म मार्ग से विचलित कर देता है। अतः आध्यात्मिक साधक को उपर्युक्त सभी प्रकार के घमंडों का त्याग देना चाहिए।

सगुण भक्ति संत काव्य धारा : हिंदी साहित्य के मध्य काल में निर्गुण भक्ति के साथ ब्रह्म के सगुण साकार रूप के उपासक भक्त कवियों की भी एक बृहत परंपरा रही है। इन कवियों में तुलसीदास, सूरदास, नाभादास आदि के नाम प्रमुख हैं। इन कवियों के माध्यम से निम्नांकित काव्य प्रवृत्तियों को विशेष बल मिला है –

जीव तत्व की नित्यता : तुलसीदास आदि सगुण भक्त कवियों ने यह बताया है कि नया नया शरीर धारण करने वाला जीव परमात्मा का अंश होने के कारण नित्य अर्थात शाश्वत है। उसका शरीर बदलता है लेकिन उसमें उपस्थित जीव–तत्व परमात्मा का अंश होने का कारण शाश्वत है। वे कहते हैं –

जीव नित्य केहि लगि तुम रोवा

जीव और ईश्वर में भेद : सगुण भक्ति के संत कवियों ने अपनी कविताओं के द्वारा यह दर्शाया है कि तात्विक दृष्टि से जीव और ब्रह्म में कोई अंतर नहीं है। संसारी जीव माया के अधीन अपने स्वरूप को नहीं जानता और कर्मबंधन के कारण चौरासी लाख योनियों में भटकते हुये सुख–दुख भोगता है। तुलसी के अनुसार जीव यदि एकरस अखंड ज्ञान में रहे तो ईश्वर और जीव में कोई अंतर नहीं रहता। जो सबके रह ज्ञान एकरस ईश्वर जीवहिं भेद कहहु कस। कवि तुलसीदास के अनुसार ईश्वर माया से स्वतंत्र है, जबकि जीव अधीन है लेकिन आत्म तत्व दोनों में समान है भेद केवल माया सहित होने का एवं माया रहित होने का है।

संसार बंधन के कारण का दिग्दर्शन : तुलसीदास आदि सगुण धारा के संत कवियों ने जीव के समस्त दुःखों का कारण अनादिकाल से संलग्न मोह या अज्ञान को माना है। उनके अनुसार जन्म मरण, संपत्ति–विपत्ति, कर्म–काल ये जगत के जंजाल हैं। धरती, नगर, परिवार, स्वर्ग, नरक आदि के मूल कारण अज्ञान है, वस्तुतः ये होते ही नहीं। स्वप्न में जैसे कोई राजा हो जाये उसका राज छिन जाये, वह बंदी गृह में चला जाये, उसका राजपाट छिन जाये किन्तु जागने पर यह लाभ–हानि कुछ भी नहीं है। इसी प्रकार जब जीव को मायारहित होने पर

आत्मबोध हो जाता है, तो जगत के सारे दुख प्रपंच नष्ट हो जाते हैं। अतः ज्ञान वैराग्य की वह ज्योति जगाना आवश्यक है, जो माया के आवरण को नष्ट करें।

दुःख बंधन से मुक्ति के उपाय : जैसा कि कहा गया है सगुण भक्ति के कवियों ने माया या अज्ञान को समस्त दुःखबंधन का कारण माना है। इसलिये, इनकी उपासना पद्धतियों के सभी उपाय उस ज्ञान ज्योति को जगाने के ही उपाय हैं, जो आत्मा के सच्चे स्वरूप से साक्षात्कार कराते हैं। संत कवियों ने ज्ञान ज्योति को जगाने के लिये अहिंसा, क्षमा, इंद्रियदमन, शुभाशुभ कर्मों को योग के द्वारा जगाने का संकेत किया है। सगुण संतों के द्वारा सत्संगति लाभ, धनलोभ से हानि, शत्रुमित्र की पहचान, ईमानदारी के प्रति आस्था अनगिनत लोकहितकारी भावों को अपने काव्य में प्रगट किया है।

रीतिकाल में संत काव्य परंपरा : रीतिकाल में संत काव्य परंपरा का स्वर कुछ मंद पड़ गया। इस काल में किसी भी धारा की ऐसी कविताएँ नहीं आई जो संतों ने ही प्रमुख रूप से कही हों। यद्यपि संत काव्य धारा से प्रभावित गृहस्थ कवियों ने उनकी अभिव्यक्ति की है। इस काल में रीतिबद्ध, रीति सिद्ध और रीति मुक्त धारा के प्रख्यात कवियों ने संत कवियों के प्रभाव से अवश्य लोक नीति संबंधी एवं भक्ति वैराग्य संबंधी कविताओं का प्रणयन किया है। इस काल में स्फुट रूप से भजन, कीर्तन, वंदना के रूप में कतिपय साधुओं एवं गृहस्थ कवियों की कविताएँ देखने को मिलती हैं। इस काल में ध्यानतराय एवं पंडित दौलतराम जैसे कुछ कवि अवश्य हुये हैं, जिन्होंने संत सिद्धांतों से अनुप्रेरित होकर अपने मूल्यवान काव्यग्रंथ हिंदी को दिये हैं।

हिंदी साहित्य के आधुनिक काल में स्वामी विवेकानंद, दयानंद सरस्वती, स्वामी सत्यभक्त, लोकमान्य तिलक तथा महात्मा गांधी के सामाजिक एवं राष्ट्रीय विचार आध्यात्मिक चेतना से संपन्न थे। इन महापुरूषों के प्रभाव से हिंदी के प्रतिष्ठित कवि प्रसाद, पंत, निराला, महादेवी वर्मा, मैथिलीशरण गुप्त, सियारामशरण गुप्त आदि ने अपनी राष्ट्रीय और सामाजिक कविताओं में आध्यात्म का पुट भी दिया। इस काल के युगल किशोर मुक्तार, रमानाथ खैरा, हरिप्रसाद हरि, माखनलाल, गोविंद दास आदि ने गृहस्थ होते हुये भी संत काव्य परंपरा की प्रवृत्तियों को अपनी काव्य कृतियों में सशक्त वाणी दी।

आधुनिक काल में स्वामी सत्यभक्त—वर्धा ने सत्य समाज नाम की स्थापना की और सर्वधर्म समभाव पर आधारित कविताएँ लिखकर संत काव्य परंपरा को क्रांतिकारी मोड़ प्रदान किया। इनकी कविताओं में आत्मकल्याण की तुलना में सामाजिक न्याय के स्वर को प्रधानता दी गई है। साधु सत्यप्रज्ञ, भजन प्रणेता एवं गायक विनोद अग्रवाल, साधु सत्यव्रत, राधेश्याम योगी, पंडित शांत प्रकाश सत्यदास, श्री उदयकरण सुमन आदि ने इसी प्रवृत्ति को प्राथमिकता दी है। इस काल में भक्तिगीत, भजन, आरती, गणेश वंदना, वैष्णव माता भजन, हनुमान भक्ति,

रामभक्ति के गीत और कव्वाली आदि के माध्यम से भी संत कवियों की भावनाओं को अभिव्यक्ति मिली। इनके अनुकरण पर अनेक फिल्मी गीतकारों एवं मंचीय कवियों ने भी संतों की भक्तिभावना को प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत किया किंतु इन सबके बीच छायावादोत्तरकाल में आचार्य विद्यासागर और उनके संघ के अन्य काव्य प्रतिभा संपन्न संतों के द्वारा सशक्त कविताएँ सामने आई जिन्हें हिंदी संत काव्य परंपरा के साथ–साथ संपूर्ण हिंदी साहित्य की निधि होने का गौरव प्राप्त है।

मुनि क्षमासागर, मुनि समतासागर, मुनि तरूण सागर आदि ऐसी ही काव्य प्रतिभा संपन्न विभूतियाँ हैं जिन्हें हिंदी संत साहित्य परंपरा को और अधिक विकसित करने का श्रेय प्राप्त है।

दीर्घ प्रश्न :

1. हिन्दी संत काव्य परम्परा के विकास पर प्रकाश डालिए।
2. हिन्दी निर्गुण संत काव्य की प्रवृत्तियों का उल्लेख कीजिए।
3. सगुण भक्ति संत काव्य धारा का परिचय देते हुए उसकी काव्य प्रवृत्तियों पर प्रकाश डालिए।

(नोट – प्रश्न 1, 2, 3 के उत्तर यूनिट 1 अ में देखें।)

लघु प्रश्न :

1. संत कवियों ने मोक्ष–प्राप्ति के मार्ग में किन बाधाओं से बचने के लिये कहा है?

उ. संत कवियों ने मोक्ष–प्राप्ति के मार्ग में हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह को बाधक माना है, जिनका त्याग आवश्यक है।

2. मोक्ष प्राप्ति के लिए किन–किन बातों को अपनाना चाहिए ?

उ. मानव को मोक्ष–प्राप्ति के लिए जीवदया, सत्य, अचौर्य व्रत, ब्रह्मचर्य, और दानवृत्ति को अपनाना चाहिए।

वस्तुनिष्ठ :

1. मोक्ष–प्राप्ति के लिए आवश्यक है –

(क) क्रोध (ख) लोभ (ग) कुशील (घ) **आत्म–ज्ञान**

2. संत कवियों ने किसको सर्वाधिक महत्ता प्रदान की है –

(क) माता (ख) पिता (ग)**गुरू** (घ) ईश्वर

3. परमात्मा किसकी सहायता करता है –

(क) दुष्ट व्यक्ति (ख) अत्याचारी (ग) मातृभक्त **(घ)विनयशील साधक**

4. संत कबीर भक्ति काल की किस शाखा के कवि हैं ?

(क)राममार्गी शाखा (ख)**ज्ञानमार्गी शाखा** (ग)कृष्णमार्गी शाखा (घ)प्रेममार्गी शाखा

5. आचार्य विद्यासागर जी की कविताएँ किस काल में प्रकाश में आई ?

(क) आदिकाल (ख) भक्तिकाल (ग)छायावादी युग (घ)**छायावादोत्तर काल**

यूनिट– 1 (ब)
आचार्य विद्यासागर के काव्य में लोकमंगल की भावना

कवि विद्यासागर मूलतः आत्मकल्याणकारी साधक हैं, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चरित्र रूप रत्नत्रय के पथ पर चलकर वे मोक्ष की यात्रा पूर्ण करना चाहते हैं। इस मोक्षमार्गी रत्नत्रय धर्म के दो पड़ाव हैं, जिन्हें क्रमशः व्यवहार रत्नत्रय और निश्चय रत्नत्रय कहा जाता है। निश्चय रत्नत्रय ही अंत में मोक्ष तक ले जाता है, किंतु व्यवहार रत्नत्रय की यात्रा पूरी किये बगैर निश्चय रत्नत्रय की ऊँचाई तक नहीं पहुँचा जा सकता। इस व्यवहार रत्नत्रय के अंतर्गत संसार के अन्य दुःखी–पीड़ित लोगों के मार्गदर्शन हेतु प्रारंभ से ही विरक्त संन्यासी लोकोपकार के कार्य संपादित करते हैं, जिनमें कवि–कर्म भी प्रमुख है। आचार्य विद्यासागर ने अपनी काव्य–साधना को व्यवहार रत्नत्रय के इसी अंग के परिपालन हेतु अर्पित किया है। अतः उनके काव्य का प्रत्येक शब्द, प्रत्येक पंक्ति और लघु रचनाएँ लोकमंगलकारी भावनाओं को जागृत करने के लिए ही लिखी गई हैं। कवियों के लिए मिलने वाले धन या यश की तो वे स्वप्न में भी इच्छा नहीं रखते। अंतरंग और बहिरंग परिग्रह के पूर्ण त्यागी संत विद्यासागर के काव्य में प्रगट लोकमंगल की भावना का दर्शन हम निम्न रूपों में करते हैं :–

आत्मा की शाश्वत सुख–दशा (मोक्ष) में आस्था

आचार्य विद्यासागर की दृष्टि में आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप में अनंत ज्ञान और आनंद का पिण्ड है। इसकी सत्ता शाश्वत है किन्तु अनंतकाल से आत्मा के साथ चेतन पुदगल परमाणु संयुक्त हैं। चेतन के साथ अचेतन की इस बद्धता को कर्म–बंध कहते हैं। इसी कर्म–बंध के कारण जीव को नाना प्रकार के शरीर धारण करना पड़ते हैं और सुख–दुःख की स्थितियाँ झेलना पड़ती हैं। साता–कर्म के उदय में अस्थायी सुख होता है। असाता–कर्म के उदय में दुःख होता है। अनंतकाल से अस्थायी सुख–दुःख की इस परम्परा को जीव भोगता आ रहा है। यदि जीव आत्म पुरुषार्थ से आत्मा को कर्म–बंध से मुक्त कर ले, तो उसकी शरीर–धारण की परम्परा समाप्त हो जाएगी और वह अपने शुद्ध स्वरूप में अनंत, शाश्वत ज्ञान–आनंद की दशा में पुनः लीन हो सकता है। 'मूकमाटी' में वे कहते हैं :–

''बंधन–रूप तन,
मन और वचन का
आमूल मिट जाना है/मोक्ष है।
इसी मोक्ष की शुद्ध–दशा में
अविनश्वर सुख होता है।''

सम्यक् आस्था एवं संयम अपनाने की प्रेरणा–

आचार्य विद्यासागर की मान्यता है कि प्रत्येक जीवात्मा की सत्ता शाश्वत होती है। प्रत्येक संसारी जीवात्मा पुरुषार्थ द्वारा अपनी आत्मा को कर्म–बंधन से मुक्त कर सकता है। इसके लिए उसे सम्यक् आस्था अंगीकार करने और आस्था के अनुसार सम्यक् आचरण (संयम) अपनाना अनिवार्य है। जो लोग मात्र सम्यक् श्रद्धा या आस्था अपनाकर संयम की उपेक्षा करते हैं, अथवा परिस्थितियों के अनुकूल–प्रतिकूल होने का बहाना करते हैं, उनका दुःख–बंधन या कर्म–बंध समाप्त नहीं हो सकता। आस्था से वास्ता होने पर ही, रास्ता स्वयं शास्ता होकर साधक को संबोधित करता है और साथी बनकर सफलता तक पहुँचाता है। संयम के बिना तो आदमी, आदमी ही नहीं। आदमी वही है, जो यथायोग्य सही आ+दमी है अर्थात् संयम को अपनाता है।

क्रोध, मान, माया, लोभ (कषाय–चतुष्टय) से रक्षा की भावना :

आचार्य विद्यासागर की दृष्टि में आत्मा के साथ संयुक्त कर्मरूप अशुद्धताओं के विविध रूपों में क्रोध, मान, माया, लोभ रूप कषायें सबसे खतरनाक हैं। इन्हीं की तीव्र दशा में और–और अचेतन पदार्थों के परमाणु आत्मा के प्रदेशों में आकर चिपकते रहते हैं और दुःखदायी परिणाम उत्पन्न करते हैं। अतः आत्मा को कर्मबंध से शुद्ध करने के इच्छुक व्यक्ति को इनके घातक प्रभावों को देखकर उन्हें मंद से मंदतर बनाने का प्रयत्न करना चाहिए। वे यह दर्शाते हैं कि मन में छल, माया, क्रोध, लोभ, मान पनपते हैं, जो भवों–भवों तक शरीर–संयुक्त आत्मा को दुःख देते रहते हैं। इन्हीं के कारण अहित में हित और हित में अहित की प्रतीति होती है। अतः इनका त्याग आवश्यक है।

जीवमात्र के प्रति अहिंसा–भाव

आचार्य विद्यासागर यह प्रतिपादित करते हैं कि संसारी जीव को मोक्ष–पथ पर बढ़ने के लिए सबसे पहले जिस सम्यक् श्रद्धान या आस्था को अपनाना होता है, उसकी पहचान यह है कि उसमें अनुकंपा गुण का विकास हो। अनुकंपा का अर्थ होता है कि संसार के समस्त प्राणियों के दुःख का अनुभव कर, उनकी पीड़ा दूर करने के लिए सक्रिय होना। 'मूकमाटी' में वे कहते हैं :–

''दया का होना ही
जीव–विज्ञान का /सम्यक् परिचय है।''
''पर की दया करने से/स्व की याद आती है....
वासना का विलास.../...मोह है, दया का विकास...../...मोक्ष है –
दया–करूणा निरवधि है
करूणा का केन्द्र वह

संवेदन–धर्म....चेतन है
पीयूष का केतन है वह।"

दया का महत्त्व बतलाते हुए 'सर्वोदय शत्, में वे यह विश्वास प्रगट करते हैं कि दया का वास जहाँ होता है, वहाँ मोक्ष अर्थात् शाश्वत सुख–दशा स्वयं उतरकर आ जाती है।

इसी विश्वास के कारण कवि यह कामना करता है कि न तो मुझे स्वर्ग चाहिए और न लौकिक वैभव की चाह है। मैं तो बस लोक के समस्त जीवों का हितैषी बनकर उनकी पीड़ा दूर करना चाहता हूँ। आचार्य विद्यासागर संसार के धर्मों में दया–धर्म को श्रेष्ठतम मानते हैं। दया के बिना वे धर्म के अस्तित्व की कल्पना मिथ्या मानते हैं। अहिंसा–धर्म का पालन करने वाले मुनिराज की अहिंसा का विराट् स्वरूप दर्शाते हुए कवि यह भाव उद्‌बुद्ध करता है कि सच्ची अहिंसा वह है जो निंदा करने वाले, तलवार के प्राणहरण करने को उद्यत व्यक्ति के प्रति भी दया–भाव रखता है। ऐसी अहिंसा के पालनकर्ता ही सच्चे दया–धर्म के पालक हैं।

वैचारिक सहिष्णुता तथा समन्वय की भावना

आचार्य विद्यासागर के मत में वस्तु अनंत गुणधर्मवाली होती है। अतः उसका कथन सीमित भाषा में संभव नहीं। अनंत गुणधर्मवाली वस्तु को कोई व्यक्ति (केवल भगवान् को छोड़कर) एक साथ समग्रता में देख भी नहीं सकता। संसारी व्यक्ति एक विशेष दृष्टिकोण से ही किसी वस्तु के, किन्हीं सीमित गुणधर्मों पर दृष्टिपात करता है और भाषा की सीमित शक्ति से उसको प्रगट करता है। अतः एक ही वस्तु के संबंध में भिन्न–भिन्न मत होना स्वाभाविक है। इस सत्य को न समझ पाने के कारण लोग अपने ही मत को परम सत्य मानकर, दूसरे के मत को हेय समझते हैं। व्यक्ति–व्यक्ति, समूह–समूह के ये वैचारिक मतभेद इतने कटु हो जाते हैं कि इनसे भयानक शत्रुता, सामूहिक या साम्प्रदायिक दंगे, राजनीतिक फसाद तथा राष्ट्रीय, अंतर्राष्ट्रीय युद्ध–महायुद्धों की नौबत आ जाती है। इस एकांतवादी हठवाद से उत्पन्न विध्वंसात्मक स्थितियों से बचाने के लिए आचार्य विद्यासागर दृष्टि में अनेकांत और वाणी में स्याद्वाद अपनाने की भावना उत्पन्न करते हैं। 'मूकमाटी' में उन्होंने 'ही' को एकांतवाद का तथा भी को अनेकांत और स्याद्वाद का प्रतीक बनाकर यह दर्शाया है कि रावण 'ही' यानी एकांतवाद प्रवृत्ति का उपासक था और राम 'भी' अर्थात् अनेकांत दृष्टि और स्याद्वाद के समर्थक व उसे अपनाने वाले भी थे। इसलिए रावण की पराजय हुई और राम के विराट् सत्य की विजय। उनके अनुसार जीवन में वही व्यक्ति सफल हो सकता है जो अनेकांतवाद अपनाता है। वही समाज व राष्ट्र सुख–शांति से रह सकता है जो अनेकांतवादी दृष्टिकोण अपनाकर दूसरों के विचारों का आदर कर उन्हें समन्वित करने का प्रयास करता है।

'पक्षपात–पक्षाघात' कविता में कविविद्यासागर यह निरूपित करते हैं कि एक मत का या पक्ष का पक्षपात करना ही मस्तिष्क का पक्षाघात है। पक्षपात एक ऐसा जलप्रपात है जहाँ पर

सत्य की सजीव माटी टिक नहीं सकती। वह न जाने कहाँ बह जाती है और असत्य के विशाल पाषाण खंड अपनी धुन पर अड़े रहते हैं। एकांतवाद या पक्षपात व्यक्ति और समाज को भयानक पाताल की ओर ले जाता है। इसलिये वे कहते हैं :–

''पक्षपात पक्षाघात है

अक्षघात है, ब्रह्मघात है
इसलिए
प्रभु से प्रार्थना है
स्वीकार हो प्रणिपात!
आगामी अनंतकाल प्रवाह में
कभी न हो
पक्षपात से/मुलाकात।''

आचार्य विद्यासागर के अनुसार नय की आँख से देखने पर हमें सभी मत एक दूसरे के पूरक नजर आने लगते हैं, जिससे व्यक्ति पाप के कीचड़ से बच जाता है।

''माध्यस्था हो नासिका, प्रमाणिका नय आँख।
पूरक आपस में रहे, कलह मिटे अघ–पाक।''

पर में कर्तृत्व–बुद्धि का त्याग तथा कर्तव्य–बुद्धि का ग्रहण :

आचार्य विद्यासागर की यह मान्यता है कि प्रत्येक आत्मा अपने निज स्वरूप (आत्मा के गुण) का ही कर्ता है। कोई एक द्रव्य का, एक जीव दूसरे जीव का कर्ता नहीं हो सकता है। हाँ, वह दूसरे का निमित्त कारण या उपकारक अवश्य हो सकता है। इसलिए किसी सुख या दुःख की स्थिति के लिए प्रत्येक जीवात्मा का अपना कर्मोदय ही उत्तरदायी होता है। जब साता–कर्म का उदय होता है तो सुख भोगने को मिलता है और जब असाता–कर्म का उदय होता है तो दुःख झेलना पड़ते हैं। इसमें दूसरे निमित्त अवश्य बनते हैं, किंतु प्रमुख रूप से जीव का स्वयं का असाता–कर्म ही उत्तरदायी होता है। ऐसी परिस्थिति में किसी के सुख में निमित्त बनने पर कर्तापन का अभिमान करना व्यर्थ है। दूसरी ओर दुःख में निमित्त बनने पर दूसरे को दोषी ठहराकर उससे बैर भाव रखना भी व्यर्थ है। वे कहते हैं –

''किस किस का कर्ता बनूँ, किस किस का मैं कार्य।
किस किस का कारण बनूँ, यह सब क्यों कर आर्य।।
''पर का कर्त्ता मैं नहीं, मैं क्यों पर का कार्य।
कर्त्ता कारण कार्य हूँ, मैं निज का अनिवार्य।।''

कवि विद्यासागर पर में कर्तापन के भाव का परित्याग करने के पक्षधर होते हुए भी उस के उपकार में निमित्त बनने का समर्थन करते हैं। उनका मत है कि यदि हम कर्तापन का अभिमान त्यागकर दूसरे का उपकार (निमित्तकारण बनने) कर्तव्य बुद्धि की प्रेरणा से करते हैं तो इससे आत्म–पर–कल्याण का पथ प्रशस्त होता है। वे व्यक्त करते हैं :–

"कर्त्तापन भी गन्ध बिन, सदा करे कर्त्तव्य।
स्वामीपन ऊपर धरे, ध्रुव पर हो मन्तव्य।।"

गुण–ग्रहण का भाव :

सामान्य लोगों में यह मानसिक कमजोरी पायी जाती है कि उनकी दृष्टि दूसरों के दोषों पर जाती है और गुणों के प्रति वे उपेक्षा दृष्टि अपनाते हैं। इस प्रवृत्ति से समाज व व्यक्ति में तरह–तरह के विग्रह, विघटन दिखायी देते हैं। आचार्य विद्यासागर ऐसी दृष्टि को काल की सृष्टि मानते हुए उसे धिक्कारते हैं तथा गुण–ग्रहण की प्रवृत्ति अपनाने का भाव जागृत करते हुए कहते हैं :–

"ओ री!कलि की सृष्टि
कलि से कलुषित
कलंकिनी दृष्टि!
सदा शंकिनी!
अवगुण–अंकिनी!
कभी–कभी तो
गुण का चयन किया कर!
तेरी वंकिम दृष्टि में
केवल अवगुण ही झलकते हैं क्या ?" ('कुटिया!' कविता)

कवि का विश्वास है कि ऐसा कोई जीवन नहीं है जिसमें गुण न मिलें। अतः यदि हम गुण के उपासक हैं, गुणों में वृद्धि करना चाहते हैं तो हमें दूसरों के गुणों पर दृष्टिपात करना चाहिए। जो लोगदूसरों को सुधारने की इच्छा तो रखते हैं, परंतु गुण–पारखी दृष्टि के अभाव में उन्हें कुपात्र घोषित कर देते हैं, ऐसे लोगों के चित्त में उदारता का संचरण करने हेतु वे कहते हैं कि जिस प्रकार प्रत्येक नगर, उपनगर, महल या कुटिया में कोई न कोई प्रवेश द्वार रहा करता है। इसी प्रकार प्रत्येक जीव में कोई न कोई गुण ऐसा होता है, जिससे उसमें ज्ञान–प्रकाश की किरण प्रवेश पा ही जाती है।

बहुमत को सत्य की अनिवार्य कसौटी मानने का विरोध

आचार्य विद्यासागर सत्य को लोक कल्याण का अनिवार्य तत्व मानते हैं, किंतु उनका इस बात से विरोध है कि बहुमत को सत्य की अनिवार्य कसौटी माना जाए। अनेक बार भटके हुए बहुमत के कारण विश्व और राष्ट्र को भयानक हानियाँ उठानी पड़ती हैं। प्रजातंत्र के निर्णय तो बहुमत पर आधारित होते हैं कि भेड़तंत्री प्रजातंत्र में बहुमत के निर्णय राष्ट्र को मुसीबत के गड्ढे में गिरा देते हैं। अतः वे बहुमत पर आधारित सत्य के स्वागत के प्रति अपनी पीड़ा व विरोध प्रगट करते हुए कहते हैंः–

''जहाँ तक सत्य की बात है
देश विदेश में भारत में भी
सत्य का स्वागत है
आबाल वृद्धो, प्रबुद्धों से
किन्तु खेद इतना ही है
कि/सत्य का यह स्वागत
बहुमत पर/आधारित है।।''

समता की उपासना :

संकट और दुःखों की स्थिति आने पर लोग इतना घबड़ा जाते हैं कि अनेक प्रकार की मानसिक और शारीरिक व्याधियाँ उन्हें घेर लेती हैं। अनेक लोग संकट के कारणों पर एकांगी दृष्टिपात करते हुए कुछ लोगों को इसके लिए उत्तरदायी ठहराकर उनसे बदला या प्रतिशोध लेने में अपनी शक्ति बरबाद करते हैं। परिणामतः उनके दुःख और अधिक बढ़ जाते हैं। ऐसी स्थितियों से बचने के लिये आचार्य विद्यासागर यह भाव उद्‌बुद्ध करते हैं कि दुःखों का दोष किसी पर न मढ़कर, उन्हें निजकर्मों का फल मानकर, समतापूर्वक सहन करना उचित है। उनके मत में निमित्त कारणों को इष्ट–अनिष्ट मानकर राग–द्वेष करना और अधिक दुःखों को आमंत्रित करना है :–

''तूने किया विगत में कुछ पुण्य पाप,
जो आ रहा उदय में स्वयमेव आप।
होगा न बंध तब लौं, जब लौन राग,
चिन्ता नहीं उदय से, बन वीतराग।''

इन पंक्तियों में हम देखते हैं कि यदि लोग दुःखागमन पर क्रोध आदि करने के बजाय समतापूर्वक उसे सहन करते हैं, तो इससे आत्म–प्रदेशों में बँधे कर्म की निर्जरा (मुक्ति) होती है। यदि हम दुःख आने पर दूसरों पर क्रोध आदि भाव करते हैं तो इससे दुःखदायी नवीन कर्म बँध जाता है।

धन–संचय की होड़ त्यागने की भावना

आचार्य विद्यासागर के अनुसार भोग–सामग्री के संचय की प्रवृत्ति लौकिक एवं अलौकिक दोनों ही दृष्टियों से हानिकारक है। जिस तरह संग्रह के कारण समुद्र का जल खारा रहता है और संग्रह–वृत्ति से मुक्त होने के कारण सरिता का जल मीठा होता है, इसी प्रकार जिस जीवन में संग्रह–वृत्ति रहती है, उसमें पापया कलुषित वृत्तियाँ अधिक होती हैं तथा जिस जीवन में धन को परोपकार में निरंतर व्यय किया जाता है, उसमें पुण्य का अमृत होता है। मक्खी वही उड़ पाती है, जिसके पंखों पर वस्तु चिपकी नहीं रहती। इसके विपरीत यदि मक्खी के पंख पर बाह्य पदार्थ चिपके होते हैं तो वह स्वच्छंदता से नहीं उड़ पाती। इसी प्रकार धन–संग्रह करने वाला व्यक्ति पवित्र जीवन के आकाश में नहीं उड़ पाता। सभी प्रकार के अंतरंग एवं बहिरंग परिग्रह को त्यागकर ही जीव धर्म व परोपकार के आकाश में उड़ पाता है। धन–संग्रह की प्रवृत्ति का कारण बतलाते हुए आचार्य विद्यासागर कहते हैं :–

''संग्रह परका तब बने, जब हो मूर्च्छा–भाव।
प्रभाव शनि का क्यों पड़े, मुनि में मोहाभाव।''

इन पंक्तियों के माध्यम से कवि यह निर्दिष्ट करता है कि जब शरीर आदि के प्रति ममत्व बुद्धि रूप मूर्च्छाभाव रहता है, तब उसके भोग के लिए सामग्री–संचय की प्रवृत्ति विकसित होती है। मुनि इस मोह, मूर्च्छा का अभाव कर लेते हैं। अतः परिग्रह रूपी शनि का प्रभाव उन पर नहीं पड़ पाता।

नारी–महात्म्य

भारतीय समाज में व्याप्त नारी के प्रति हेय भावना के निष्कासन हेतु आचार्य विद्यासागर ने नारीत्व के उन विशेष गुणों को उद्घाटित किया है, जिनके कारण वह महिमामयी हो जाती है। वे इस तथ्य की ओर जनमानस का ध्यान केंद्रित करते हैं कि बच्चे अपने हों या पराये, उन्हें भूखा–प्यासा देखकर नारी के हृदय में वात्सल्य उमड़ पड़ता है। 'नारी' परतंत्र होकर भी पाप की पालड़ी को भारी नहीं होने देती। स्त्रियों का नाम 'भीरू' इसलिए पड़ा, क्योंकि वे पुरूष की अपेक्षा अधिक पाप–भीरू होती हैं। 'स्त्री' के नारी नाम से यह संकेत मिलता है कि वे शत्रुता भाव को प्रश्रय नहीं देती। जीवन के प्रति उदासीन, हतोत्साही पुरूष के जीवन में आस्था जगाने तथा भोग–सामग्री के संग्रह–रोग से त्रस्त, पाप में लिप्त पुरूष को वह धर्म, कर्तव्य का मठा–महेरी पिलाती है। इसलिए उसका नाम 'महिला' हुआ। बला (संकट) को टालने के कारण 'अबला' नाम की सार्थकता दिखलायी देती है। पुरूष की वासना को संयत करने के लिए ही 'स्त्री' गर्भधारण कर माँ का रूप धारण करती है। सुहावनी अच्छाइयों का स्त्रोत होने के कारण उसे 'सुता' नाम दिया गया। उभयकुल के मंगल में वर्धन करने के कारण वह 'दुहिता' कहलाती है। जानने की शक्ति का बोध 'मातृ' शब्द से होता है। स्त्री को मात्र

अंग समझकर पुरूष भोगना चाहता है, परंतु अँगना शब्द इस बात का बोध कराता है कि स्त्री मात्र अंग नहीं है, बल्कि उसमें नारीत्व के विशिष्ट गुण होते हैं, जिनके कारण संसार में सुख–शांति सुरक्षित है। अतः नारीत्व गुणों की रक्षा और उनका आदर आवश्यक है।

उपर्युक्त अनुशीलन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि हिंदी काव्य परंपरा में आरंभ से लेकर आलोच्य कवि तक लोकमंगल भावना को प्रमुख प्रतिपाद्य के रूप में स्वीकार कियागया है और काव्य साधकों ने अपनी प्रतिभा के बल पर समाज कल्याणकारी भावनाओं का उद्वेलन कर लोक–चित्त के परिष्कार में अपनी काव्य–साधना का उपयोग समर्पण भाव से किया है।

दीर्घ प्रश्न –

1. आचार्य विद्यासागर के काव्य में लोकमंगल की भावना पर संक्षेप में प्रकाश डालिए।
2. आचार्य विद्यासागर की काव्यकृतियों में व्यक्त अहिंसा भाव और समन्वय की भावना की समीक्षा कीजिए।

नोट– प्रश्न 1 व 2 के उत्तर यूनिट 1 ब में देखें।

लघु प्रश्न –

1. विद्यासागर जी ने आत्मा की शाश्वत सुख दशा (मोक्ष) के संबंध में क्या कहा है ? स्पष्ट कीजिए।

उत्तरः कवि की दृष्टि में आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप में अनंत ज्ञान और आनंद का पिंड है। जीव कर्म बंधन में बंधा रहता है, इसलिए नाना प्रकार के कष्ट भोगता है। यदि जीव आत्म पुरूषार्थ से आत्मा को कर्म बंधन से मुक्त कर ले तो शरीर धारण की परम्परा से मुक्त हो सकता है और उसे अनंत, शाश्वत ज्ञान–आनंद की दशा प्राप्त हो सकती है।

2. आचार्य विद्यासागर ने नारी के महत्व को किस प्रकार प्रतिपादित किया है ?

उत्तरः भारतीय समाज में व्याप्त नारी के प्रति हेय भावना के निष्कासन हेतु विद्यासागरजी ने नारी के गुणों को उदघाटित किया है। नारी वात्सल्य भाव की मूर्ति, पाप–भीरू, मानव को उत्साहित करने वाली, कर्तव्यपथ का बोध कराने वाली, वंशवृद्धि करने वाली, तथा दुहिता के रूप में दो परिवारों को जोड़ने वाली होती है। अतः नारी की महत्ता है और वह आदर की पात्र है।

वस्तुनिष्ठ –

1. असाता कर्म के उदय से क्या होता है ?

(क) सुख **(ख) दुःख** (ग) सुख–दुःख (घ) कुछ भी नहीं

2. विद्यासागर जी संसार के धर्मों में किसे श्रेष्ठतम मानते हैं ?

(क) करूणा (ख) अहिंसा (ग) मोह **(घ) दया–धर्म**

3. जीव में ज्ञान–प्रकाश की किरण का प्रवेश किससे होता है ?

(क) अवगुण **(ख) गुण** (ग) ईर्ष्या (घ) द्वेष

4. विद्यासागर ने सुख–दुख की स्थिति में किस भाव को अपनाने का उपदेश दिया है ?

(क) समता भाव (ख) क्रोध भाव (ग) ममता भाव (घ) ईर्ष्या भाव

5. दो कुलों के मंगल में वर्धन करने के कारण नारी को क्या कहा जाता है ?

(क) महिला (ख) अबला **(ग) दुहिता** (घ) सबला

————————

इकाई– 2

आचार्य विद्यासागर जीवन और व्यक्तित्व परिचय

बाल्यकाल :आचार्य विद्यासागर का जन्म, कर्नाटक प्रदेश के सदलगा ग्राम जिला वेलगाम के निकट चिक्कोडी में 10 अक्टूबर, 1946 को हुआ। आपकी माता का नाम श्रीमति जी है और आपके पिता श्री मलप्पा जी पारसप्पा जी अष्टगे थे। आपके जन्म स्थान सदलगा से 18 किलोमीटर दूर अक्कीवाट नाम का एक प्रसिद्ध समाधि स्थल है, वहाँ पर भटटारक मुनि श्री विदयासागर जी की स्मृति संचित है। आचार्य विद्यासागर जी के जन्म के पूर्व उनके माता पिता प्रत्येक अष्टमी और चतुर्दशी को इस समाधि स्थल पर जाया करते थे। उन्होंने आचार्य विद्यासागर के जन्म को उसी का पुण्य फल माना था इसलिये उन्हीं की याद को सुरक्षित करने के लिये उन्होंने अपने बालक का नाम विदयाधर रखा। जब विदयाधर डेढ वर्ष के थे उनके माता पिता श्रवणवेलगोला की विश्वविख्यात बाहुबली स्वामी की मूर्ति के दर्शन करने गये। बालक विदयाधर भी साथ में थे जब उनके माता पिता गोमटेश्वर की पूजा अर्चना में लीन थे, तभी बालक विदयाधर सीढ़ियों की ओर चले गये। किसी ने उनको नहीं देखा। जब मां ने अपने समीप शिशु को नहीं देखा तब चिंतित होकर पति से पूछा कि पीलू (विदयासागर का शैशव का नाम) कहाँ गया ? तब वे व्यग्र होकर ढूंढने लगे। उन्होंने ग्यारहवीं सीढ़ी पर बालक को कुशलपूर्वक खेलते देखा और इस घटना को पुण्य फल मानकर गद्गद् हो गये। उनकी आस्था गोमटेश्वर बाहुबली की पूजा में कई गुना बढ़ गई। वे मूल बद्री से हेलिविड और मैसूर की यात्रा करते हुये दो माह पश्चात अपने घर लौटे।

शिक्षा–दीक्षा– पांच वर्ष की अवस्था में बालक विद्याधर को सदलगा ग्राम की कन्नड माध्यमिक शाला में भर्ती कराया गया। पहले ही दिन से पाठशाला में रूचि पूर्वक पढ़ने लगे। बचपन से ही उनका सहपाठियों से प्रेम और सहयोग का व्यवहार बन गया था और वे विनयशीलता के गुण से परिपूर्ण थे। शिक्षकों द्वारा दिये गये होमवर्क को पूर्ण करने में वे रूचि रखते थे।

ग्रामीण शाला के चार वर्ष उन्होंने बिना किसीसहपाठी से झगड़ा किये बिताये। शिक्षक भी उनकी विनयशीलता से प्रसन्न रहे। वे निर्भीक होकर अपने शिक्षकों से प्रश्न पूछते थे। स्कूली शिक्षा के साथ–साथ धार्मिक शिक्षा ग्रहण करना भी उन्होंने किशोर अवस्था से प्रारंभ कर दिया था। उनके पिता मलप्पा जी प्रत्येक संध्या को मंदिर में शास्त्र वाचन करते थे। बालक विदयाधर भी इस शास्त्र सभा में उपस्थित होते और बीच–बीच में प्रश्न भी करते।

उन्हें एक दो बार पढ़ने मात्र से पाठ कंठस्थ हो जाता था। माँ के कहने पर उन्होंने भक्तामर स्तोत्र कंठस्थ कर सबको सुना दिया। वे मधुर कंठ थे, धार्मिक कविताएँ भी याद करके सुनाया करते थे। उनकी मधुर आवाज के कारण लोग उन्हें गिनी तोता कहने

लगे।चतुर्थ कक्षा में प्रथम स्थान अर्जित कर वे पाँचवी में अच्छे अंको से उत्तीर्ण होकर छठवीं कक्षा में आ गये।

एक दिन गिल्ली डंडा खेलते समय उनकी गिल्ली एक गुफा के द्वार पर जा गिरी। गिल्ली उठाते समय उन्होंने गुफा में एक साधु को देखा। लज्जा भाव से गिल्ली लेकर जैंसे ही वे भागने वाले थे कि संत ने उन्हें बुलाया। बालक विद्याधर विनम्र भाव से मुनि के चरणों में बैठ गये, महाराज जी ने उन्हें स्कूल शिक्षा के साथ साथ जैन धर्म की शिक्षा को भी गंभीरता से ग्रहण करने की सलाह दी। बालक विदयाधर ने जैन धर्म की शिक्षा इतनी तत्परता से की कि उन्हें भक्तामर स्तोत्र कंठस्थ हो गया। मुनि श्री ने उन्हें मोक्ष शास्त्र याद करने को कहा कुछ ही महीनों के उपरान्त उन्होंने मोक्ष शास्त्र भी याद करके महाबल मुनिराज को सुना दिया। मुनि श्री ने आशीर्वाद दिया और वे धार्मिक शिक्षा को बराबर का महत्व देते गये।

जब विदयाधर जी सातवीं कक्षा में पढ़ रहे थे तब आचार्य श्री देशभूषण महाराज का आगमन सदलगा ग्राम में हुआ। मुनि महाराज के संपर्क का लाभ उठाते हुये ग्राम वासियों द्वारा बालकों का मूंजी बंधन जनेऊ संस्कार आयोजित किया गया। इस संस्कार में 12 वर्ष या इससे ऊपर की आयुवाले बालकों को चोटी छोडकर मुंडन कराके जनेऊ पहनाया जाता है और उस दिन उपवास भी रखा जाता है जिसमें पानी तक नहीं पिया जाता। अगले दिन स्नान कर सफेद धोती दुपट्टा पहनकर सात घरों से भिक्षा लेकर उसी से बना भोजन ग्रहण किया जाता है। विदयाधर ने भी जनेऊ संस्कार ग्रहण करने की इच्छा प्रकट की और वे अपने बड़े भाई महावीर प्रसाद जी एवं पिताश्री से आज्ञा लेने पहुंचे। आज्ञा न मिलने पर भी वे जनेऊ संस्कार के दिन आचार्य वेषभूषण जी महाराज के समक्ष गये और प्रथम पंक्ति में बैठ गये।

जब संचालक ने मूंजी बंधन के इच्छुक बालकों को प्रथम पंक्ति में बैठने को कहा तो जनेऊ संस्कार के उत्सुक तीस बालक धोती दुपट्टा पहने मंडली में बैठगये, जनेऊ संस्कार के प्रथम पात्र विदयाधर ही बने। उनके पिता को अब आभास हो गया कि उनका यह पुत्र विरक्त होकर धर्म साधना की ऊपरी मंजिलों को पार करेगा। ग्राम सदलगा में उस समय सातवीं कक्षा तक ही विद्यालय में शिक्षा का प्रबंध था। अतः सांतवी कक्षा उत्तीर्ण करने के बाद विदयाधर को बेड़कीहाल के हाई स्कूल में भर्ती होना पड़ा, वे सायकिल पर बैठकर ही अपने सहपाठियों के साथ नित्य बेड़कीहाल जाते और शाम को सायकिल से ही वापस लौटते। 9 वीं कक्षा उत्तीर्ण करने के बाद उनकी रूचि धार्मिक शिक्षा में और बढ़ गई, 16 वर्ष की आयु में उन्होंने नित्य देवदर्शन शास्त्र स्वाध्याय को दिनचर्या का अंग बना लिया। मंदिर जी में रात्रिकालीन प्रवचन सभा में विद्याधर स्वयं प्रवचन करने लगे और श्रोताओं के प्रश्न करने पर उनके शास्त्र सम्मत उत्तर भी देने लगे।

खेलकूद व धार्मिक शिक्षण में प्रगति :

स्कूली शिक्षा के समानान्तर विदयाधर का धार्मिक अध्ययन भी रूचि पूर्वक चलता रहा। पाठशाला में अध्ययन केसमय खेलकूद की गतिविधियाँ भी होती थीं। विद्याधर की भी उनमें सक्रिय भागीदारी होती थी। गिल्ली डंडा, गेंद, दौड़, नाटक और सिनेमा भी वे देखा करते थे। शतरंज के खेल में तो उन्होंने अत्यधिक निपुणता प्राप्त की थी। चित्रकला में वे पशु–पक्षी, तीर्थंकरों तथा महापुरूषों के चित्र बनाया करते थे। हिंसा और आतंक विरोधी विचारों से वे प्रभावित थे। उन्हें गाँधी और नेहरू जी की अहिंसा नीति ने बड़ा प्रभावित किया था। जैसे–जैसे धार्मिक क्रियाकलापों में उनकी रूचि बढ़ी वैसे–वैसे खेलकूद और मनोरंजन के कार्यक्रम उनसे छूटते गये। घरेलू कार्यों और खेती बाड़ी में वे हाथ–बंटाते थे। एक बार उनका नौकर खेत में एक बैल को पीट रहा था उन्होंने देखा और नौकर को वहाँ से हटा दिया, और बैल की जगह खुद हल में जुत गये।

आध्यात्मिक साधना का आरंभ :

सदलगा ग्राम के आसपास जहाँ कहीं भी श्रमण संतों का आगमन होता विदयाधर जी उनके दर्शन और प्रवचनों का लाभ लेने पहुंच जाते थे। एक बार जैन संत नेमीसागर जी मुनिमहाराज बोरगांव आये और उन्होंने संल्लेखना व्रत ले लिया, विद्याधर ने जैसे ही यह समाचार सुना, वे मुनिराज के पास गये और अंत तक उनकी सेवा में लगे रहे। मुनिराज नेमिसागर जी के समाधि मरण के पश्चात वैराग्य के भाव इतने तीव्र हो गये कि वे स्वयं भी मुनि दीक्षा लेने के लिये गुरू की शरण तलाश करने लगे। जब उनकी उम्र 20 वर्ष थी, तब वे आचार्य देशभूषण के पास जयपुर गये और ब्रह्मचर्य व्रत धारण करने की प्रार्थना की। विद्याधर की इस इच्छा के कारण परिवार और ग्राम भर में चिंता व्याप्त हो गई। विदयाधर बिना बताये ही जयपुर गये थे।

विद्याधर के भाई बहिनों ने यह अनुमान लगा लिया कि विद्याधर जी किसी मुनि संत के सानिध्य में ही गये होंगे। एक सप्ताह के बाद आचार्य वेषभूषण जी के संघ की ओर से विदयाधर के पिता मलप्पा जी को एक पत्र प्राप्त हुआ, उस पत्र में विदयाधर को ब्रह्मचर्य व्रत की अनुमति मांगी गई थी। उनके बड़े भाई महावीर प्रसाद जी असहमत थे, अतः लौटाने हेतु गये, किन्तु उन्होंने जयपुर में देखा कि विद्याधर तो मुनि सेवा में लगे हैं। उन्होंने विद्याधर को भाई–बहिनों एवं माता– पिता की असहमति और चिंता बतलाते हुये घर लौटने को कहा, लेकिन विदयाधर ने कहा कि मैं तो जन्म मरण की श्रृंखला तोड़ने के लिये अब अपनी साधना करना चाहता हूँ।

भाई महावीर प्रसाद जी एवं उनके साथ गये स्वजनों ने विद्याधर पर लौटने का दबाव डाला। इस पर विद्याधर ने मौन व्रत धारण कर लिया और आहार का त्याग कर दिया।बिना

कुछ खाये पिये तीन दिन हो गये। लोगों को चिंता हुई और बात मुनि महाराज जी तक पहुंची। आचार्य जी ने जब जान लिया कि यह बालक अपने इरादे का पक्का है, और घर वापस जाने को तैयार नहीं है, तब उन्होंने बडे भाई से अनुमति लेकर अपने समक्ष विद्याधर को बह्मचर्य व्रत दे दिया। विद्याधर ने तब आहार लिया और उनके बड़े भाई महावीर प्रसाद घर लौट गये।

व्रतों में प्रगति :

जब विदयाधर 21 वर्ष के हुये तब आचार्य देशभूषण महाराज के साथ श्रवणबेलगोला गये। वहाँ भगवान गोमट्टेश्वर की मूर्ति का महा–मस्तकाभिषेक होना था। यहाँ उन्होंने मुनि के सानिध्य में अनेक धार्मिक अनुष्ठान किये थे। इन अनुष्ठानों को देखकर उनकी धार्मिक आस्था और भी दृढ़ हो गई, परिणाम स्वरूप वे उस दिन की प्रतीक्षा करने लगे जिस दिन वे मुनि दीक्षा लेकर अपनी तपस्या को आगे बढ़ायेंगे। उन्होंने भक्तिपूर्वक आचार्य सेवा और नियमों का पालन किया। एक संध्या आचार्य श्री की डोली को जमीन पर टिकाकर वे आराम करने बैठे ही थे कि एक बिच्छू ने उन्हें काट लिया। तीव्र वेदना होने पर भी उन्होंने इलाज नहीं करवाया। यहाँ, वे परीषह विजय की परीक्षा में उत्तीर्ण हो गये। सुबह तक समता पूर्वक वे कष्ट सहन करते रहे। श्रवणबेलगोला में कुछ समय बिताकर देशभूषण जी महाराज ने विहार किया और स्तभनिधि क्षेत्र पहुंचे। ब्रह्मचारी विदयाधर उनके साथ रहे, उन्होंने मुनि के समीप रहकर शास्त्र अध्ययन किया और गुरूसेवा में समय बिताया। उनकी धर्म प्रवणता में सदलगा निवासियों का आगमन मोह जगाने की कोशिश करता था। अतः उन्होंने जयपुर जाने का निश्चय किया जहां आचार्य ज्ञान सागर जी महाराज थे।

आचार्य ज्ञान सागर जी के समक्ष मुनि दीक्षा का अनुरोध :

दो दिन तक निर्जला उपवास करने के बाद विद्यासागर जी अजमेर पहुँचे। गाड़ी से उतरकर सबसे पहले वे मंदिर गये और उसके बाद में सेठ कजोड़ीमल के घर पहुंचे, उन्हें अपना परिचय दिया। धर्म प्रेमी कजोड़ीमल जी के समक्ष जब विदयाधर जी ने अजमेर नगर के समीप मदनगंज किसनगढ़ जाकर मुनि श्री ज्ञानसागर जी महाराज के निकट जाने की इच्छा प्रगट की, तब कजोड़ीमल जी प्रसन्न हो गये। मुनि श्री ज्ञानसागर जी ने विदयासागर जी की रूचि समझकर प्रश्न किया कि जिस प्रकार तुम आचार्य श्री देशभूषण जी को छोड़कर यहाँ आ गये हो, इस प्रकार यहाँ से छोड़कर चले तो नहीं जाओगे। इसके उत्तर में विद्याधर ने वाहन त्याग और ईर्या–चर्या को ग्रहण करने का वचन दिया। ज्ञान सागर जी मुनि महाराज को आश्चर्य–मिश्रित प्रसन्नता हुई। उन्होंने होनहार साधक को अपने पास आश्रय दे दिया। मुनि श्री ज्ञान सागर जी ने उन्हें शास्त्र ज्ञान और साधना शक्ति की बारीकियों का प्रशिक्षण देना प्रारंभ कर दिया। विद्याधर जी ने अपनी गहन अध्ययनशीलता, भक्ति और सेवा से गुरू को प्रभावित किया।

गुरू ज्ञान सागर जी महाराज अधिक समय देकर विद्याधर को शास्त्र अध्ययन कराने लगे। विद्याधर की मातृभाषा कन्नड थी, अतः संस्कृत और हिंदी का ज्ञान बढ़ाने में पंडित महेंद्र कुमार शास्त्री ने सहायता की। कुछ ही दिनों में विद्याधर जी संस्कृत, प्राकृत और हिंदी के धर्म ग्रंथों को न केवल समझने लगे बल्कि उनको समझाने में भी इतने निपुण हो गये कि मुनि श्री के चार्तुमास के समय दस लक्षण पर्व पर मोक्ष शास्त्र जैसे कठिन शास्त्र पर उन्होंने अधिकार पूर्वक रोचक ढंग से प्रवचन किया। मौखिक रूप से ही मोक्ष शास्त्र के सूत्रों का पाठ और उनकी व्याख्या सुनकर सभी को आश्चर्य मिश्रित आनंद की अनुभूति हुई। मुनि ज्ञान सागर जी ने विद्याधर की योग्यता को देखकर सर्वार्थ–सिद्धि का अध्ययन करने की सलाह दी। विद्याधर ने गुरू की सहायता से इस ग्रंथ के गूढ़ रहस्यों को शीघ्र ही समझ लिया और इस प्रकार एक के बाद एक गंभीर ग्रंथों के अध्ययन का, उन्होंने मनोयोग पूर्वक सिलसिला जारी रखा। इन ग्रंथों के प्रभाव से उनकी सम्यक आस्था प्रगाढ़ होती गई कि सभी को अब निश्चय हो गया कि विद्याधर नाम के ब्रह्मचारी दिगम्बर मुनि का रूप धारण कर अपनी साधना को अधिक प्रशस्त करेंगे।

मुनि ज्ञान सागर जी के संपर्क में रहकर विद्याधर जी ने महाव्रतों के पालन की क्षमता बढ़ाई। एक दिन में वे एक बार ही आहार लेते, बिना सिला वस्त्र धारण करते और उन व्रतों का अभ्यास करते रहते जो मुनि दशा में आवश्यक होते हैं। वस्त्रक्षीण होने पर भी वे गुरू से आज्ञा लिये बिना नया वस्त्र स्वीकार नहीं करते। एक दिन एक बिच्छू ने उन्हें डस लिया तो तीन दिन तक वे बिना इलाज के हीसमता भाव से पीड़ा सहन करते रहे। भक्तामर पाठ कर उन्होंने अपने राग–द्वेष परिणामों को इतना दृढ़ कर लिया कि पीड़ा के दिनों में भी उन्होंने धार्मिक नियमों के पालन में दृढ़ता बनाये रखी।

मुनि दीक्षा ग्रहण :

22 वर्ष की आयु में विद्याधर ने मुनि ज्ञान सागर जी के समक्ष मुनि दीक्षा का अनुरोध किया। गुरू को भी शिष्य की योग्यता पर विश्वास हो गया था, इसलिये उन्होंने प्रमुख श्रावकों से दीक्षा के संबंध में विचार विमर्श किया। श्रावकों में इस संबंध में अनेक मत थे। अधिकाँश लोगों का मत था कि आयु की दृष्टि से ब्रह्मचारी विद्याधर को दो तीन वर्ष और प्रतीक्षा कराई जाये, लेकिन विद्याधर की साधना देखकर आचार्य ज्ञान सागर जी ने 30 जून 1968, दिन रविवार दीक्षा हेतु निश्चित कर दिया। सदलगा से भी पिता श्री मलप्पा जी को बुलाया गया। ग्राम वासियों ने यह समाचार सुना तो उनमें मिली–जुली प्रतिक्रियायें होने लगीं। पारिवारिक ममता के कारण मलप्पा जी ने बड़े पुत्र महावरी प्रसाद को दीक्षा के लिये निर्धारित तिथि पर अजमेर भेज दिया।

वे दीक्षा तिथि से पूर्व ही अजमेर पहुँच गये। दीक्षासे दो दिन पूर्व विद्याधर की शोभा यात्रा निकाली गई. जिसमें हजारों नर–नारियों ने भाग लिया। इस जुलूस में बड़े भाई महावीर

प्रसाद भी धार्मिक वैभव के प्रत्यक्षदर्शी थे। वे दीक्षा की अनुमति दे चुके थे, अतः पूर्ण उत्साह के साथ विद्याधर जी के साथ वे मंच पर पहुंचे। गुरू के आदेश के उपरान्त विद्याधर ने दीक्षा हेतु निवेदन किया, गुरू ने स्वीकृति दी। उनके संक्षिप्त और सार–गर्भित प्रवचन को सुनकर सभी आनंद विभोर हो गये। गुरू से आज्ञा लेकर विद्याधर ने मंच पर केशलोंच किया। मंत्रों के उच्चारण करते हुये मुनिवर ज्ञान सागर जी ने उन्हें दीक्षा दी। वस्त्र त्यागकर विद्याधर पूर्ण परिगृह के त्यागी संत के रूप में प्रगट हुये चारों ओर से जयकार के नारे गूँज उठे।

अब विद्याधर का नाम मुनि विद्यासागर हो चुका था। अचानक, उस भीषण गर्मी में वर्षा होने लगी। पंद्रह दिन बाद ही अजमेर में मुनि ज्ञान सागर जी के संघ का चातुर्मास प्रारंभ हो गया। इसी बीच मलप्पा जी परिवार सहित मुनि संघ के दर्शन हेतु पहुंचे। मुनि विद्यासागर जी के परिजन मुनि वेश में देखकर हर्षित हुये, इसी अवसर पर विद्याधर के सहपाठी मित्र दर्शन करने आये। गुरू ज्ञान सागर ने मारूति से कहा, तुम्हारे सहपाठी तो उन्नति कर गये, क्या तुम यहीं पड़े रहोगे ? इस पर मारूति ने भी ब्रह्मचर्य व्रत लेने की इच्छा प्रगट की और आज्ञा माँगी महाराज ने मारूति को भी ब्रह्मचर्य व्रत दे दिया।

मलप्पा जी के सदलगा वापस चले जाने के उपरांत मुनि विद्यासागर जी ने गुरू की शरण में बैठकर प्रमेयकमल, मार्त्तंड, अष्टसहस्त्री आदि न्याय–ग्रंथों का गंभीर अध्ययन किया। इसके प्श्चात आचार्य कुंदकुंद द्वारा लिखित रत्नत्रय, समयसार, प्रवचन सार और नियमसार ग्रंथों का अध्ययन किया। इसके बाद पंचास्तिकाय के अध्ययन मनन हेतु वे जी जान से जुट गये। दीक्षा के उपरांत मुनि ज्ञान सागर जी के संघ का अजमेर–राजस्थान के केशरगंज जिनालय में गमन हुआ। सन 1969का अगला चार्तुमास वहीं सम्पन्न हुआ। मलप्पा जी भी पुनः धर्म लाभ लेने के लिये इस अवसर पर आये। उनके दोनों लघु पुत्र, अनंत नाथ और शांति नाथ भी साथ थे। उन्होंने कन्नड भाषा में ही मुनि विद्यासागर जी की धर्म चर्चा सेलाभ लिया। इसी चातुर्मास में ब्रह्मचारी पन्नालाल ने संल्लेखना व्रत किया। गुरू आज से उनकी वैयावृति का भार भी मुनि विद्यासागर ने ग्रहण किया।

एक ओर तो उनकी पीड़ा को मुनि विदयासागर जी, सेवा द्वारा दूर करते, दूसरी ओर धर्म चर्चा और मंत्र उच्चारण के द्वारा उनके समता भावों को स्थिर करनेमें वे निमित्त बने। अंत समय समीप जाकर मुनि विद्यासागर, ब्रह्मचारी पन्नालाल जी को दिगंबरी दीक्षा लेने की सलाह दी। ब्रह्मचारी पन्नालाल जी ने दिगम्बरी दीक्षा के साथ संल्लेखना व्रत लेकर समाधिमरण प्राप्त किया।

फाल्गुन, कृष्ण पंचमी 7 फरवरी 1969 में मुनिज्ञान सागर ने नसीराबाद, राजस्थान में आचार्य पद स्वीकार किया। इस समय भी मुनि विद्यासागर उनके साथ थे। इसके पश्चात

उन्हीं के सानिध्य में उन्होंने 1970 तथा 1971 का चार्तुमास किसनगढ़, राजस्थान में संपन्न किया।

आचार्य पद : सन, 1972 में नसीराबाद राजस्थान में जब आचार्य ज्ञान सागर का चार्तुमास संपन्न हो रहा था उनकी आयु 80 वर्ष हो चुकी थी। उनके मन में विचार आया कि आचार्य पद का दायित्व शास्त्र ज्ञान और प्रवचन कला में निपुण तथा चरित्र की साधना निर्दोष ढंग से करने वाले मुनि विद्यासागर को दिया जाये, ताकि वे अंत समय में धर्म, ध्यान और तप में एकाग्रता बढ़ा सके। एक दिन उन्होंने अपनी इच्छा मुनि विद्यासागर के समक्ष प्रकट की। मुनि विद्यासागर ने निवेदन के साथ कहा कि हे, गुरूवर आप ज्ञान के अगाध सागर हैं आप आयु में बड़ेऔर तपोबृद्ध भी हैं, मैं आपका शिष्य शास्त्रज्ञानार्थी और अनुभव हीन हूँ। अतः मैं इस गरिमामय आसन के उपयुक्त नहीं हूँ। आप वटवृक्ष हैं, आपकी शीतल छाया में हम सभी ज्ञान अर्जन करते हैं। हम, आपसे चरित्र साधना का पाठ पढ़ते हैं और मोक्ष मार्ग की गहन गुत्थियों को सुलझाते हैं। आप मुझे इस अधिकार से वंचित न कीजिये। दस दिन तक लोगों ने उन्हें स्वीकृति के लिये समझाया पर उन्होंने यह प्रस्ताव स्वीकार नहीं किया। एक दिन ज्ञान सागर मुनिराज जी ने अपने शिष्य मुनि विद्यासागर को बुलाया और कहा कि मैं वृद्ध हो गया हूँ, जीवन नश्वर है। गुरू तुमसे दक्षिणा चाहता है। शिष्य ने स्वीकृति दे दी, इस पर गुरूवर ने दक्षिणा के रूप में आचार्य पद सम्हालने का प्रस्ताव रख दिया। अब उन्हें अमान्य करना असंभव हो गया। गुरू चरणों में गिरकर मुनि विदयासागर ने मौन स्वीकृति दे दी।

ज्ञान सागर जी ने धर्म निष्ठ साधकों से परामर्श लेकर 22 नवंबर, 1972 की तिथि इस कार्य हेतु निश्चित कर दी। नसीराबाद के एक भव्य समारोह में उक्त तिथि को विद्यासागर जी को आचार्य पद देकर मुनि संघ के संचालन का दायित्व सौंप दिया गया। अपने शिष्य को मुनि पद पर आसीन कर मुनि ज्ञान सागर जी ने कहा कि हे, आचार्य अब आप मेरे आचार्य हैं, और मैं आपके संघ का एक मुनि। अब आपका आदेश मुझ पर भी लागू होगा। आप ही मुनियों को आचार ग्रहण करायेंगे तथा शास्त्रीय ग्रंथियो को सुलझायेंगे। इस संघ का संचालन अब आपके ही सुदृढ हाथों में होगा। मैं अब समाधिमरण हेतु संल्लेखना धर्म धारण करने का इच्छुक हूँ। आचार्य विदयासागर ने इस अवसर पर अपने वक्तव्य में यह भाव व्यक्त किये कि मैं गुरू भक्त हूँ, और आपकी ही कृपा और पुण्य से मुझे यह दायित्व मिला है। इसका निर्वाह मैं यथाशक्ति से करूंगा। श्रमण परंपरा के इतिहास की संभवतः यह प्रथम घटना थी जबकि किसी जैनाचार्य ने जीवित अवस्था में अपने ही शिष्य को आचार्य पद प्रदान किया था और नूतन आचार्य की आज्ञा के अनुरूप स्वयं मुनि व्रतों का परिपालन किया।

आयोजन के पश्चात मुनि ज्ञान सागर जी ने समाधि के निमित्त संल्लेखना व्रत धारण कर लिया। संल्लेखना की प्रक्रिया सात माह तक चली। एक जून सन, 1973 शुक्रवार को प्रातः 10:50 पर आचार्य ज्ञान सागर जी ने समाधिमरण प्राप्त किया।

अपने गुरू की स्मृति में आचार्य विद्यासागर ने 'श्री ज्ञान सागर स्तुति' नामक काव्य की रचना की। सन, 1973 में ही ब्यावर राजस्थान के चार्तुमास के अवसर पर उन्होंने 'निजानुभव शतक' नामक काव्यकृति हिंदी साहित्य को प्रदान की। सन, 1974 में अजमेर में सोनी जी की नसैया में चातुर्मास के अवसर पर आचार्य विदयासागर जी की कलम से 'श्रमण शतकम' ग्रंथ का सृजन हुआ। यह ग्रंथ संस्कृत भाषा में आर्या छंद में लिखा गया। यह आपका प्रथम संस्कृत शतक ग्रंथ था। इसका पद्यानुवाद उन्होंने वसंततिलिका छंद में प्रस्तुत किया।इसी चार्तुमास में उन्होंने भावना शतकम नामकी कृति भी संस्कृत साहित्य को प्रदान की। इस कृति का समापन सन, 1975 में अतिशय क्षेत्र श्री महावीर में हुआ। इसका हिंदी पद्यानुवाद भी फिरोजाबाद में हिंदी साहित्य प्रेमियों के समक्ष आ गया।

सन, 1974 में एक डॉक्टर दंपत्ति आचार्य विद्यासागर के संपर्क में आये, वे आचार्य विद्यासागर के धर्म उपदेशों और प्रवचनों से इतने प्रभावित हुये कि डॉक्टर साधु हो गये। तत्पश्चात उनकी पत्नी ने भी छुल्लिका दीक्षा ले ली। इसी वर्ष आचार्य विद्यासागर जी के गृहस्थ जीवन की बहिनों शांता और सुवर्णा ने उनसे ब्रह्मचर्य व्रत की दीक्षा ली तथा भाई अनंतनाथ भी ब्रह्मचर्य व्रत लेकर मुनि संघ में शामिल हो गये। भगवान महावीर के पच्चीस सौवें निर्माण उत्सव के समय संत विनोबा भावे ने समाज के समक्ष इस उत्सव की स्मृति में जैन दर्शन के सार संग्रह से युक्त एक रचना का प्रस्ताव रखा, इस प्रस्ताव को ध्यान में रखकर जब जिनेंद्रवर्णी द्वारा संकलित प्राकृत गाथा युक्त समणसुत्तं ग्रंथ के हिंदी अनुवाद की प्रार्थना आचार्य विद्यासागर के समक्ष की गई. तो उन्होंने जैन गीता नाम से इसका हिंदी पद्यानुवाद कर दिया। बसंततिलिका छंद में लिखा यह पद्यानुवाद हिंदी पद्यानुवादों की परंपरा में एक बेजोड़ ग्रंथ माना जाता है।

कटनी में परिषय जय : महावीर जयंती के आसपास आचार्य विद्यासागर के संघ के साथ विराजित छुल्लक श्री समय सागर जी को मलेरिया हो गया, तीव्र ज्वर से उनकी नाड़ी जाती सी जान पड़ी, किन्तु प्रातः होते ही बिना किसी औषधि सेवन से बुखार उतार पर आ गया। लेकिन उसी रात आचार्य विद्यासागर बीमार हो गये उनका बुखार खतरे के निशान को पार कर गया लेकिन उन्होंने बिना किसी दवा के अपनी साधना तपस्या जारी रखी। उन्होंने पंडित जगनमोहन लाल जी को बुलाकर समाधिमरण की इच्छा प्रगट की लेकिन सुबह होते ही उनका बुखार उतर गया। सभी भक्तों की प्रसन्नता का ठिकाना नहीं रहा, लेकिन उनकी बीमारी लगभग ढाई माह तक चलती रही और वे समतापूर्वक उसे सहन करते रहे।

आचार्य विदयासागर का सन 1977 का चातुर्मास कुण्डलपुर में संपन्न हुआ, यहाँ उन्होंने 'निरंजन शतकम' ग्रंथ पूर्ण किया, इसका हिंदी पद्यानुवाद भी वसंततिलिका छंद में पूर्ण किया। इसके बाद आचार्य विदयासागर जी ने आचार्य कुंदकुंद कृत समयसार ग्रंथ का पद्यानुवाद 'कुंदकुंद का कुंदन' नाम से इसी वर्ष प्रस्तुत किया। इसी श्रृंखला में उन्होंने आचार्य अमृतचंद्र

द्वारा विरचित समयसार कलश ग्रंथ का हिंदी पद्यानुवाद भी ज्ञानोदय छंद में किया, और इसका नाम निजामृतपान रखा। इसी वर्ष अभाना ग्राम में प्रवास के समय उन्होंने 'द्रव्यसंग्रह' का भी पद्यानुवाद प्रस्तुत किया। 1978 में नयनागिरी में रहकर उन्होंने 'अष्टपाहुण' ग्रंथ का हिंदी पद्यानुवाद समाज को प्रदान किया। नैनागिरि में उन्हें पुनः ज्वर पीड़ा ने घेर लिया किन्तु वह शीघ्र ही शांत हो गया। यहाँ उनके दर्शन के लिये देश के प्रसिद्ध उद्योगपति भी आये, राजनैतिक नेता भी गये और दूसरी ओर हरिसिंह पूजा बब्बा और रामसिंह जैसे डाकू भी उनके दर्शन करने गये। इन डाकुओं ने किसी भी यात्री या दर्शनार्थी को कोई पीड़ा नहीं दी। सन, 1979 में जयपुर पहुंचे और वहां पुनः ज्वर के उपसर्ग ने उन्हें घेर लिया लेकिन आचार्य विद्यासागर की धर्मनिष्ठता और तपसाधना तनिक भी शिथिल नहीं हुई। इसी समय मदनगढ़ और किसनगढ राजस्थान में आचार्य विदयासागर की प्रेरणा से पंच–कल्याणक की तैयारियाँ चल रही थीं, जैसे ही महाराज श्री को स्वास्थ्य लाभ हुआ वे किसनगढ़ पहुँच गये उनके प्रवचनों कीअभूतपूर्व धर्म प्रभावना हुई। 1979 का चातुर्मास आचार्य विदयासागर ने थोवनजी, मध्यप्रदेश में सम्पन्न किया। इस दौरान उन्होंने गौम्मटेस का पद्यानुवाद ज्ञानोदय छंद में किया। कुंदकुंद आचार्य द्वारा रचित नियमासार, प्रवचनसार तथा वारशाणुवेख्खा का पद्यानुवाद भी वसंततिलिका छंद में किया।

सन, 1980 में आचार्य विद्यासागर नैनागिरी पहुँचे वहाँ पर अनेक साधना इच्छुक लोगों को दीक्षित करने का समारोह आयोजित था। दर्शनार्थी के रूप में सागर विश्वविदयालय के तकनीकी उच्च शिक्षा से मंडित सिंघई वीरेंद्र कुमार जी ने उनके प्रवचनों से प्रभावित होकर कहा हि आचार्य प्रवर मैं भी चरणों में रहकर धर्म आराधना करना चाहता हूँ। आचार्य श्री ने उनसे कहा कि क्या तुम केश लुंच कर सकते हो। वीरेंद्र जी ने हाँ कह कर तत्काल केश लुंचन करके बतला दिया। आचार्य श्री ने उन्हें आशीर्वाद देते हुये उन्हें छुल्लक दीक्षा दे दी। सन, 1980 में उन्होंने समयसागर जी को मुनि दीक्षा दी और सागर पहुँचे। सागर में 15, अप्रैल 1980 को योग सागर जी एवं नियमसागर जी को मुनि दीक्षा प्रदान की। सागर में उन्होंने षटखंडागम तथा धवला की टीकायें लिखकर प्रदान की और वाचना द्वारा उनके कर्म सिद्धांत के गूढ रहस्यों से समाज का परिचय कराया। इसी वर्ष उन्होंने स्वयंभू–स्तोत्र का हिंदी पद्यानुवाद समंत भद्र की भद्रता नाम से प्रस्तुत किया। 'नर्वदा का नर्म कंकर' नामककाव्य ग्रंथ का लेखन भी उसी वर्ष सागर में प्रारंभ हुआ और मुक्तागिरी बैतूल में इसका समापन हुआ। इसी वर्ष आचार्य विद्यासागर जी ने अनेक पद्यानुवाद और निजी मौलिक ग्रंथ हिन्दी साहित्य को प्रदान किये।

ईसरी झारखंड में चातुर्मास एवं साहित्य रचना : 1973 में आचार्य विद्यासागर का चातुर्मास ईसरी –झारखंड में संपन्न हुआ। यहां उन्होंने संस्कृत में सुनीति शतकम की रचना की। इसका हिंदी पद्यानुवाद भी ज्ञानोदय छंद में किया। इसी तारतम्य में उन्होंने आत्म–मीमांसा का

पद्यानुवाद भी पूरा किया और हिंदी काव्य–कृति डूबो मत, लगाओ डुबकी, कुण्डलगिरी कोनीजी, पाटन जबलपुर में संपन्न हुआ। ईसरी के पश्चात आचार्य विद्यासागर को अनेक विघ्न बाधाओं के बीच कलकत्ता आने का निमंत्रण समाज की ओर से दिया गया। कलकत्ता में नग्न मुनि के आगमन को अन्य अज्ञानियों द्वारा बिघ्न बाधा से अवरूद्ध न किया जा सके, इसे ध्यान में रखते हुये पश्चिम बंगाल के राज्यपाल स्वयं स्वागत के लिये गये।

जबलपुर में षटखंडागम, वाचना शिविर एवं मूक माटी महाकाव्य का सृजन : सन् 1984 में आचार्य विद्यासागर विहार करते हुये पिसनहारी की मढ़िया जबलपुर पहुँचे, वहाँ दूसरी बार षटखंडागम वाचना शिविर का आयोजन हुआ। इसके साथ उन्होंने मूक–माटी महाकाव्य के सृजन का प्रारंभ किया। सन, 1984 के ही वर्ष में राजस्थान में आचार्य श्री की लौकिक माता आर्यिका दीक्षा लेकर साध्वी बन गई और उनका समाधिमरण हो गया। इसी ग्रीष्मकालीन प्रवास के दौरान आचार्यश्री के शिष्य मुनि संयम सागर जी ने वाराणसी में समाधिमरण प्राप्त किया। लेकिन, यह दोनों ही घटनायें आचार्य विद्यासागर को तपस्या से डिगा नहीं सकीं और उनके परिणाम समता के बने रहे। उन्होंने इस दौरान ब्राह्मी–विद्याश्रम के नाम से एक महिलाओं के लिये संस्था स्थापित की और पिसनहारी की मढ़िया में एक विशाल शोध संस्थान की स्थापना की। सन, 1985 से आचार्य विद्यासागर ने संघ सहित कुंडलपुर, टीकमगढ़, नैनागिरी, पापौराजी, ललितपुर आदि अनेक स्थानों पर विहार किया और धर्म की प्रभावना का कार्य आगे बढ़ाया। अनेक स्थानों पर उन्होंने दीन–दुखियों की सेवा के लिये अस्पताल, गौ–रक्षा के लिये गौशालायें, गरीब छात्रों के लिये निःशुल्क छात्रावास स्थापित किये।

विदयासागर जी ने जीवदया और वन्य प्राणियों की रक्षा तथा पर्यावरण सुरक्षा के लिये जन जागरण करने वाले समारोहों में भाग लिया। उनकी प्रेरणा से जबलपुर, भोपाल, ललितपुर आदि क्षेत्रों में व्यसन मुक्ति के कार्यक्रम भी आयोजित किये गये। राष्ट्रीय शिक्षानीति और राष्ट्रभाषा हिंदी के लिये भी उन्होंने अनेक प्रेरणादायी प्रवचन दिये। आचार्य विदयासागर ने बेरोजगारी हटाने तथा अहिंसक तरीके से जीवन यापन करने के लिये लघु –उदयोग स्थापित करने के लिये भी अनेक सुझाव आम जनमानस तथा प्रशासन को दिये।

इस तरह हम देखते हैं कि आचार्य विद्यासागर ने आर्थिक सामाजिक और राजनैतिक विचारों की वह भूमिका भी निर्मित करने का कार्य किया, जिससे कि सभी एक ऐसा सात्विक जीवन व्यतीत करें जो आध्यात्मिक साधना का पूर्व सोपान बनने का कार्य कर सकें।

व्यक्तित्व की विशेषताएँ : आचार्य विद्यासागर ने अपने व्यक्तित्व में एक श्रमण संत की उन सभी विशेषताओं को आत्मसात किया है जो उनकी मोक्ष की यात्रा में सहायक हैं। उनके व्यक्तित्व के प्रमुख गुणों को निम्नानुसार वर्णित किया जा सकता है –

अटठाईस् मूलगुणधारी : आत्म साधना में प्रवृत्त रहने के लिये आचार्य विद्यासागर ने जैन मुनियों की परंपरा में स्वीकृत पाँच महाव्रत, पांच समिति, पांच इंद्रिय निरोध, छह आवश्यक,

अदंत धावन, अस्नान, भूमिशयन, एक भुक्ति स्थिति भोजन, केश लुंचन और दिगम्बर वेश इन अटठाईस् गुणों से अपने को संयुक्त किया है। इनका विस्तृत परिचय इस प्रकार है :

पांच महाव्रत पालन : आचार्य विद्यासागर ने हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह पापों का प्रतिज्ञा पूर्वक त्याग किया है। वे बड़ी दृढ़ता से इन पापों से अपने को बचाये रखते हैं। इनके पालन हेतु उन्होंने मन, बचन और कार्य से सूक्ष्म तथा बादर, त्रास एवं स्थावर सभी जीवों का कृत कार्य और अनुमोदन से उन्होंने त्याग किया है। आचार्य विद्यासागर हिंसात्मक कार्यों की ओर न तो स्वयं प्रेरित होते हैं और न ही अन्य को प्रेरित करते हैं, और न ही हिसांत्मक कार्यों का समर्थन करते हैं। हिंसा से बचने के लिये वे पृथ्वी से मिटटी तक नहीं खोदते, वे न आग जलाते हैं और न किसी अन्य से जलवाते हैं। वे कच्चे पानी को छूते भी नहीं। सुख–सुविधा की वस्तुओं जैंसे पँखे, कूलर, हीटर आदि का उपयोग नहीं करते, फल–फूल, घास–पात, छोटे या बड़े वनस्पति जीवों को वे घात नहीं करते। अहिंसा महाव्रत का कड़ाई से पालन करने के लिये हरी घास पर कदम भी नहीं रखते।

सूक्ष्मतम जीवों के घात को बचाने के लिये वे ध्यान पूर्वक उठते–बैठते हैं और हर व्यवहार में इस बात का ध्यान रखते हैं कि किसी जीव को उनके द्वारा कष्ट न पहुँचे। अहिंसा पालन हेतु वे वाणी संयम भी रखते हैं। चलने–फिरने, उठने–बैठने की क्रियाओं में जीव दया का ख्याल वे रखते हैं, वे दिन के प्रकाश में एक बार ही विधि पूर्वक आहार ग्रहण करते हैं। आहार में शास्त्र निर्दिष्ट अहिंसक भोजन ही वे लेते हैं।

सत्य महाव्रत पालन : असत्य, हिंसा जनक होता है इसलिये आचार्य विद्यासागर जी असत्य वचनों का प्रयोग नहीं करते। वे हितकारी मैत्रीपूर्ण और प्रिय शैली में ही बोलते हैं। सत्य होने पर भी कठोर ढंग से नहीं कहते। सत्य महाव्रत से उनका व्यक्तित्व शोभित होता रहे इसलिये क्रोध, लोभ, भय और मजाक का त्याग किया है।

महाव्रत : आचार्य विद्यासागर जी इस महाव्रत के पालन हेतु जल, मिटटी, तिनका जैसी वस्तु को भी बिना अनुमति के ग्रहण नहीं करते। गिरी हुई वस्तु, गिरी हुई, भूली हुई, रखी हुई अल्प या अधिक मूल्य की कैसी भी वस्तु हो आचार्यश्री बिना अनुमति के उसे छूने में भी दोष मानते हैं। विहार करते समय शीत, घाम, या वर्षा से बचने हेतु वे किसी के भवन का बिना अनुमति विश्राम हेतु प्रयोग नहीं करते। वे गिरी, गुफा या निर्जन स्थानों में आवास करते हैं। वे किसी का कमंडल, शास्त्र आदि भी बिना अनुमति तक नहीं लेते।

ब्रह्मचर्य : आचार्य विद्यासागर बाल–ब्रह्मचारी हैं और वे सदैव उन भौतिक और मानसिक परिस्थितियों से दूर रहते हैं। इस व्रत पर आघात कर सकती हैं, वे राग जगाने वाली चर्चाओं, कथाओं को सुनने पढ़ने से भी दूर रहते हैं। वे राजसी और तामसी भोजन भी इसी व्रत के कारण त्यागे हुये हैं।

अपरिग्रह महाव्रत : आचार्य विद्यासागर अपने पास पिछी, कमंडल को छोड़कर कोई वस्तु भी नहीं रखते। पिछी, कमंडल संयम की रक्षा के लिये रखते अवश्य हैं लेकिन इनसे ममत्व भाव का त्याग उन्होंने किया है, उन्हें अपने शरीर तक से ममत्व नहीं है। इसीलिये उन्होंने नग्न दिगंबर रूप धारण किया है। पिछी, कमंडल खो जाने या टूट जाने पर वे शोक नहीं करते, शास्त्र पढ़ने के लियेकुछ समय तक ले लेते हैं। लेकिन उनसे हमेशा अनासक्त रहते हैं।

पांच समितियों के पालन करने का गुण : आचार्य विद्यासागर ने ईया समिति, भाषा समिति, ऐषणा समिति, आदान निक्षेपण समिति तथा व्युत्सर्ग समिति संबंधी प्रवृत्तिगत सावधानियों से अपने व्यक्तित्व को सज्जित किया है। वे प्राकृतिक प्रकाश में चार हाथ भूमि देखकर चलते हैं ताकि कोई भी छोटा जीव पैरों तले न आजाये। भाषा समिति के पालन हेतु वे निंदा, चापलूसी और दूषित वचनों से अपना बचाव रखते हैं। वे नपे–तुले शब्दों में प्रिय एवं हितकारी वचन ही बोलते हैं। ऐषणा समिति के पालने हेतु वे मुनि आहारचर्या के अनुसार विधिपूर्वक सदाचारी सेवक के यहां लोभरहित भाव से भिक्षा–वृत्ति से दिन के प्रकाश में छियालीस दोषों को टालकर सिर्फ एकबार आहार लेते हैं। आदान निक्षेपण समिति का पालन वे अहिंसा को ध्यान में रखकर करते हैं। संयम के साधन पिछी कमंडल को उठाकर सदैव वे जीव हिंसा न हो जाये इस बात का ध्यान रखते हैं। व्युत्सर्ग समिति के पालन हेतु आचार्य विद्यासागर जंतु रहित सूखे स्थान पर जो आपत्ति रहित हो वहाँ पर जाकर ही शौच क्रिया करते हैं।

पंचेद्रिय–रोधः आचार्य विद्यासागर ने इच्छाओं पर विजय प्राप्ति का पूर्ण अभ्यास किया है। वे किसी भी संसारी भोग पदार्थ की ओर आकृष्ट नहीं होते, वे सभी पदार्थों को इष्ट–अनिष्ट दृष्टि से दूर मानते हैं। सांसारिक वस्तुओं में उनकी अनासक्ति को देखकर यह आभास हो जाता है उन्होंने इंद्रिय–इच्छाओं को जीत लिया है।

छह आवश्यक : आचार्य विद्यासागर ने सामयिक स्तुति, वंदना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग नामक छह आवश्यकों के पालन का नियम लिया है। वे राग द्वेष मोह से विमुख रहते हैं। लाभ–अलाभ, सुख–दुख, शत्रु–मित्र, कांच–कंचन, जीवन–मरण सब परिस्थितियों को समभाव दृष्टि से देखते हैं अर्थात वे इनमें न राग करते हैं न द्वेष करते हैं। ये छह आवश्यक साधुत्व के कवच माने जाते हैं। इनके द्वारा आचार्य श्री ने अपने व्यक्तित्व को गरिमावान बनाया है। वे चौबीस तीर्थकरों के गुणों का बखान स्तुतियों में करते हैं और उन्हें मन, वचन, काय से प्रणाम करते हैं।

जब कभी वे यह अनुभव करते हैं कि चर्या में कोई गलती हो गई तो उसके शोधन हेतु वे प्रतिदिन प्रतिक्रमण करते हैं। आत्मालोचन करके वे अपनी भूलों को सुधारते रहते हैं। प्रत्याख्यान नियम के द्वारा उन्होंने अपने दृढ़ चरित्र को ओजवान किया है। वे पंच परमेष्ठियों का स्मरण करते हुये आत्म–स्वरूप में लीन रहते हैं।

इसके अतिरिक्त आचार्य विद्यासागर श्रमण साधु के लिये अनिवार्य बताये गये अस्नान, अदंत–धावन, भू–शयन, स्थिति भोजन के नियमों का पालन भी कड़ाई के साथ करते हैं। वे गद्दा, तकिया या शैया का उपयोग शयन के लिये नहीं करते। थकान दूर करने के लिये वे भूमि, शिला, लकड़ी का पाटा, सूखी घास या चटाई पर ही विश्राम करते हैं। स्थिति भोजन नियम का पालन करने हेतु वे दिन में एक बार ही खड़े होकर करपात्र में भोजन करते हैं। वे स्वाद पर ध्यान नहीं देते उनकी यह वृत्ति गोचरीय वृत्ति कहलाती है।

केश लौंच – आचार्य विद्यासागर अहिंसा धर्म के पालन हेतु स्वयं अपने हाथ से अपने केश लौंच करते हैं।

यथाजात दिगंबर मुद्रा : आचार्य विद्यासागर अपने शरीर को वस्त्र आदि से नहीं ढ़कते। उन्हें अपने शरीर से रंच भी मोह नहीं है। छोटा शिशु जिस प्रकार सभी पाखंडों से रहित रहता है आचार्य विद्यासागर भी यथाजात बालक की भाँति विकार रहित होकर दिगंबर मुद्रा धारण करते हैं। यह उनके साधुत्व का और अपरिग्रह महाव्रत का हिस्सा हैं। संवरपूर्वक निर्जला के लिये उक्त अट्ठाईस मूल गुणों के अतिरिक्त आचार्य विद्यासागर ने दसधर्म, बारह अनुप्रेक्षाओं का चिंतन, 22 परिषह जय, तीन गुप्तियों, छह बाह्य तप–नियम, छह आभ्यांतर तप–नियमों के अभ्यास का पालन करने का नियम रखा है।

यह दस नियम उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम शौच, उत्तम सत्य, उत्तम संयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आकिंचन्य और उत्तम ब्रह्मचर्य कहे जाते हैं। आचार्य विद्यासागर क्रोध की परिस्थिति आने पर भी क्रोध नहीं आने देते। निंदा अपमान, प्रतिकूल परिस्थितियों में भी वे क्रोध नहीं करते। आचार्य विद्यासागर जाति, कुल, रूप, ज्ञान, तप, वैभव, प्रभुत्व ऐश्वर्य संबंधी सभी प्रकार के अभिमानों से रहित रहते हैं। वे इन्हें विनश्वर समझकर मान घमंड नहीं करते। भीतर बाहर से वे एक से रहते हैं। ऋजुता और सरलता उनके व्यक्तित्व के अभिन्न अंग हैं। किसी वस्तु के प्रति न तो वे मन में ममत्व रखते हैं और न पाने की इच्छा। उन्होंने इच्छा निरोध रूपी तप साधना का अच्छा अभ्यास किया है।

बारह अनुप्रेक्षाओं का चिंतन : आचार्य विद्यासागर अपने में वैराग्य भावना का विकास करने हेतु वैराग्य की जननी बारह प्रकार की भावनाओं का चिंतन सदैव करते रहते हैं।

परिषहजयी व्यक्तित्व : आत्मा को शाश्वत सुख दशा में ले जाने के लिये आचार्य विद्यासागर ने जिस तप साधना को अपनाया है उनके बीच में यदि बड़ी से बड़ी बिघ्न–बाधा, शारीरिक या मानसिक कष्ट की स्थिति क्यों न आ जाये वे उसे सहन करते रहते हैं।

मुनि होने से पहले ही उन्होंने बिच्छू काटने की पीड़ा का उपसर्ग बिना इलाज कराये सहन किया था। इसी प्रकार प्रिय से प्रिय जनों का विछोह भी उनकी तपचर्या में व्यवधान नहीं डाल पाता।

तीन गुप्तियों के नियम : आचार्य विद्यासागर ने मन, गुप्ति, वचन गुप्ति तथा काय गुप्ति संबंधी नियमों के पालन को अपने आध्यात्मिक साधना का अंग बनाया है।पाप क्रिया से बचने के लिये वे राग द्वेष क्रोध आदि की परिस्थितियों में असत्य वाणी का निरोध करते हैं। शारीरिक चेष्टाओं के द्वारा संभावित हिंसाओं से बचते हैं और मौन के द्वारा वचनों से संभावित हिंसा को रोकते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार्य विद्यासागर ने अपने व्यक्तित्व में एक तपस्वी के उन दुर्लभ गुणों को आत्मसात किया है जो उनकी मुक्ति की साधना में सहायता करते हैं।

दीर्घ प्रश्न

1. आचार्य विद्यासागर के जीवन वृत्त पर प्रकाश डालिये।
2. आचार्य विद्यासागर के व्यक्तित्व की विशेषतायें बताइये।

नोटः प्रश्न 1 व 2 का उत्तर इकाई दो में देखें।

लघु प्रश्न :

1. आचार्य विद्यासागर की अभिरूचि का उल्लेख कीजिए।

उत्तरः स्कूली शिक्षा और धार्मिक ज्ञानार्जन के साथ–साथ विद्याधरजी गिल्ली डंडा, दौड, शतरंज, सिनेमा आदि में रूचि लेते थे। शतरंज में तो वे निपुण थे। चित्रकला में वे पशु–पक्षी, तीर्थंकरों और महापुरूषों के चित्र बनाया करते थे। यही नहीं घरेलू कार्यों और खेती बाड़ी में भी वे हाथ बंटाया करते थे।

2. आचार्य विद्यासागर के व्यक्तित्व की किन्ही दो विशेषताओं पर प्रकाश डालिये।

उत्तरः आचार्य विद्यासागर में श्रमण संत के सभी गुण विद्यमान थे। उनके व्यक्तित्व की दो विशेषतायें निम्नांकित हैं –

(अ) **पाँच महाव्रत पालन**– विद्यासागरजी ने हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह पापों का दृढता से त्याग किया। उन्होंने हिंसात्मक कार्य को न तो स्वयं अपनाया और न दूसरों को प्रेरित किया।

(ब) **पांच समितियों के पालनकर्ता**– विद्यासागरजी ने ईया समिति, भाषा समिति, ऐषणा समिति, आदान निक्षेपण समिति तथा व्युत्सर्ग समिति संबंधी प्रवृत्तिगत सावधानियों से अपने व्यक्तित्व को सज्जित किया है।

वस्तुनिष्ठ :

1. विद्यासागर जी का जन्म कब हुआ ?

(क) 15.09.1945 **(ख) 10.10.1946** (ग) 12.11.1947 (घ) 10.12.1948

2. विद्यासागर का जन्म किस प्रान्त (प्रदेश) में हुआ ?

(क) महाराष्ट्र (ख) मध्य प्रदेश **(ग) कर्नाटक** (घ) उत्तर प्रदेश

3. विद्यासागर जी को किस खेल में सर्वाधिक निपुणता प्राप्त थी ?

(क) गिल्ली डंडा (ख) दौड **(ग) शतरंज** (घ) वालीबाल

4. विद्यासागर ने किस जैन मुनि से दीक्षा ग्रहण की ?

(क) मुनि क्षमासागर (ख)मुनिसमतासागर **(ग) मुनि ज्ञानसागर** (घ)मुनितरूण सागर

5. विद्यासागर कितनी अनुप्रेक्षाओं का चिंतन करते थे ?

(क) दस (ख) आठ (ग) ग्यारह **(घ) बारह**

इकाई– 3

आचार्य विद्यासागर जीवन–दर्शन एवं रचना संसार (संक्षिप्त परिचय)

जीवन दर्शन – जीवन को दुःख अवस्था से सुखमय अवस्था तक ले जाने वाली विचार श्रृंखला को किसी साहित्यकार का जीवन दर्शन कहा जाता है। आचार्य विद्यासागर की काव्य–कृतियों में जिन भावनाओं की अभिव्यक्ति हुई है वे उनके जीवन दर्शन का स्पष्ट संकेत करती हैं। आचार्य विद्यासागर प्राणियों के जीवन को वर्तमान देह की उम्र ही नहीं मानते, वे जीव को चिंरतन चेतन या आत्म तत्व मानते हैं और इसकी सत्ता शाश्वत प्रतिपादित करते हैं। दूसरे शब्दों में आचार्य विद्यासागर की मान्यता है कि वर्तमान देह त्याग के पश्चात भी जीव की सत्ता बनी रहती है और वह कर्म अनुसार दूसरी देह धारण करता रहता है। यदि, पुरूषार्थ के द्वारा वह अपनी आत्मा को सदा के लिये देह–मुक्त भी कर ले तो भी जीव की शाश्वत सत्ता बनी रहती है। उनकी दृष्टि में आत्म–तत्व या जीव–तत्व अजर अमर है। मूक माटी महाकाव्य में उन्होंने स्पष्ट रूप से यह प्रकाशित किया है कि सत्ता शाश्वत होती है और प्रति सत्ता में होती है। इस आत्म–सत्ता या जीव तत्व को आचार्य विदयासागर ने पर्याय की दृष्टि से दो प्रमुख भेदों में मान्यता दी है। प्रथम कर्मबद्ध पर्याय, दूसरे कर्म मुक्त पर्याय। ध्यान देने योग्य बात यह है कि कर्म शब्द का प्रयोग लोक व्यवहार में काम करना, डियूटी पर जाना, व्यवसाय करना, यज्ञ हवन करना, राजनीति करना, उठना–बैठना आदि बाह्य–व्यवहारों से भी होता है।

किन्तु यहां कर्मबद्धता का अर्थ दर्शन शास्त्र के पारिभाषिक अर्थ में किया गया है। दर्शन शास्त्र में कर्म से आशय है निर्जीव पुद्गल परमाणुओं के उस समूह से है जो जीव तत्व के साथ अनादि काल से संबद्ध है। इन कर्म परमाणुओं से संबद्ध जीव बद्ध पर्याय का जीव या कर्म बंधन से बँधा जीव कहलाता है। जो कर्म परमाणु शरीर रूप से परिणत होते हैं उन्हें नौ–कर्म कहते हैं। लोक अनंत कर्म परमाणुओं से भरा है जीव अनादि काल से मन, वचन और काय की क्रियाओं से इन कर्म परमाणुओं को ग्रहण करता है। मन, वचन और काय की प्रवृत्ति तभी होती है जब जीव के साथ कर्म संबद्ध होते हैं। इस तरह कर्म से प्रवृत्ति और प्रवृत्ति से कर्म की परंपरा अनादिकाल से बीज और वृक्ष की तरह चली आ रही है। कर्म और प्रवृत्ति के इस कार्यकारी संबंद्ध को दृष्टि में रखते हुये इस प्रकार के परमाणुओं को द्रव्य कर्म तथा कर्मों को आकर्षित करने वाली राग–द्वेषमय प्रवृत्तियों को भावकर्म कहा गया है। संसारी देहधारी जीव का स्वरूप वर्णित करते हुये आचार्य विद्यासागर मूकमाटी में कहते हैं कि प्रकृति और पुरूष के सम्मिलन से विकृति और कलुष के संकुलन से भीतर ही भीतर सूक्ष्मतम तीसरी वस्तु की जो रचना होती है दूर दर्शक यंत्र से दृष्ट नहीं होती, समीचीन दूर–दृष्टि में उतरकर आती है। यह कार्मिक व्यथन है मां अन्य भारतीय दार्शनिकों की तरह आचार्य विदयासागर द्वारा अपनाया जैन दर्शन भी इस बात में मौन है कि प्रथम बार जीव का कर्म बंधन कैसे हुआ किन्तु वे यह अवश्य दर्शाते हैं कि चूंकि कर्मबद्धता आत्मा ने ही की है, इसीलिये आत्मा ही अपने

पुरूषार्थ से इस कर्मबद्धता से मुक्त हो सकता है। यद्यपि आत्मा से इतने साधन निमित्त कारण या सहयोगी होते हैं किन्तु पुरूष या आत्मा को ही अपने में संबंध कर्मों का विश्लेषण (वियोगीकरण) करना पड़ता है। मूकमाटी में वे कहते हैं कि कर्मों का संश्लषण होना, आत्मा से फिर उनका स्वपर कारणवश विश्लेषण होना यह दोनों कार्य आत्मा की ही ममता, समता परिणति पर आधारित है। इन पंक्तियों से यह स्पष्ट है कि आचार्य विद्यासागर की दृष्टि में आत्मा यदि राग–द्वेष मय ममतामय प्रवृत्ति करता है तो कर्म बंध होता है। आचार्य विद्यासागर ने अपने काव्य ग्रंथों तथा मूकमाटी महाकाव्य में इस दार्शनिक विचार को तरह –तरह से स्पष्ट किया है कि कर्मबद्ध पर्याय में जीव को नाना प्रकार की जन्म–मरण संयोग–वियोग, इष्ट–अनिष्ट स्थितियों का सामना करना पड़ता है और वह अपनी अनंत आनंदमय आत्मानुभूति से वंचित रहता है। उसे अस्थाई सुख–दुःख के अनुभवों से गुजरना हेाता है। सुख–दुख ग्रहण में उसकी राग द्वेषमय प्रवृत्तियां ही जिम्मेदार हैं। वह दूसरे प्राणियों के निमित्त से ही सुख–दुख झेलता है और स्वयं की मलिन प्रवृत्तियों के कारण भी। मूकमाटी की निम्न पंक्तियां इस तथ्य पर प्रकाश डालती हैं –

स्वयं पतिता हूँ और पतिता हूँ औरों से
अधम पापियों से पद दलिता हूँ
सुख मुक्ता हूँ, दुख युक्ता हूँ
तिरस्कृत त्यक्ता हूँ माँ
इसकी पीड़ा अव्यक्ता है
व्यक्त किसके सम्मुख करूं क्रमहीना हूँ
पराक्रम से रीता विपरीता है इसकी भाग्य रेखा
यातनायें पीडाएं ये
इतनी तरह की वेदनाएं
और आगे कब तक पता नहीं
इनका छोर है या नहीं

देहबद्ध पर्याय का अंत कर शुद्ध आत्म–तत्व ग्रहण कर ही जीव सभी दुःखों का अंत और अनंत सुख दशा प्राप्त कर सकता है।

आचार्य विद्यासागर की मान्यता है कि जब तक जीव कर्म बद्धता को समाप्त नहीं करता, शुद्ध जीव तत्व नहीं बन जाता तब तक उसके अनादि दुःखों का अंत नहीं हो सकता। जब तक देह धारण की परंपरा चलती रहेगी जीव को शाश्वत सुख दशा की प्राप्ति नहीं होगी। इस तरह देहबद्ध या कर्म परमाणुओं से संयुक्त अशुद्ध आत्मा को होने वाले अठारह हजार प्रकार के दुखात्मक दोषों से यह मुक्त होते हैं।

आचार्य विद्यासागर के अनुसार जब तक जीव तत्व मोहिनी कर्म (राग–द्वेष आदि की प्रवृत्तियों) से मुक्त नहीं होता तब तक उसे परमात्मा तत्व की प्राप्ति नहीं हो सकती और जीव के साथ जन्म मरण, जीर्णता, बुढ़ापा आदि की दुःख दशाएं घेरे रहती हैं। आत्म शुद्ध होने पर उक्त दुखमय स्थितियां नहीं रहती। ऐसे शुद्ध जीवात्मा को न तो भूख सताती है और न ही प्यास की वेदना होती है। इनमें स्मय या विस्मय नहीं होते, इन्हें कोई भी वस्तु या व्यक्ति दुःखी नहीं कर सकता। देहधारी कर्मबद्ध जीव जिन सात प्रकार के भयों से ग्रस्त होते हैं मुक्त आत्माओं के वे नहीं होते। मुक्त आत्मायें अभय के निधान होते हैं उन्हें निद्रा, तंद्रा नहीं घेरती, उन्हें पसीना तथा अन्य शरीरमल प्रभावित नहीं कर पाते, इन्हें थकान नहीं होती, ये अनंत शक्ति से संपन्न होते हैं, इनके निकट कोई आतंक नहीं, इनकी किसी से शत्रुता नहीं, इन्हें किसी तरह का कोई शोक नहीं, ये हर प्रकार की चिंता से मुक्त होते हैं।

शुद्ध जीव तत्व बन जाने पर शाश्वत सुख दशा :आचार्य विद्यासागर ने मूकमाटी और अन्य काव्यग्रंथों में बार–बार इस बात को प्रतिपादित किया है कि शाश्वत सुख तन, मान, बचन के रूप में कर्म परमाणुओं से मुक्ति का ही नाम है। जीव अपने शुद्ध स्वरूप में ही अनंत ज्ञान, अनंत आनंद तथा अनंत सुख, अनंत शक्ति आदि का पिंड है। अतः कर्म बंधन से मुक्त होकर ही ये सब गुण प्रगट हो जाते हैं। आत्मा में सुख कहीं बाहर से हीं आते, शुद्ध रूप में आत्मा ही अनंत सुख का पिंड है। एक बार शुद्ध हो जाने पर जीव फिर अशुद्ध नहीं हो पाता, इसलिये उसकी शाश्वत सुख दशा बनी रहती है। पुरूषार्थ द्वारा अशुद्ध आत्मा के शुद्ध हो जाने को देह से विदेह हो जाना नर से नारायण हो जाना आदि शब्दों द्वारा भी प्रगट किया जाता है। जितनी भी कर्मबद्ध जीवात्मायें हैं, वे शुद्ध होकर परमात्मा बन सकती हैं। शुद्ध दशा में वे अलग अलग भी होती हैं लेकिन तात्विक होते हुये भी उन सभी में समानता होती है। सभी जीव मुक्त होने पर परमात्मा पद प्राप्त कर लेते हैं। उनमें अनंत ज्ञान, अनंत शक्ति, अनंत आनंद एक समान होता है।

कर्मबंधन से मुक्ति के उपाय : आचार्य विद्यासागर की मान्यता है कि कर्मबंधन से छुड़ाने वाले साधनों को दो वर्गों में रखा जा सकता है, प्रथम निमित्त साधन, द्वितीय उपादन कारण।

निमित्त साधन के अंतर्गत अन्य परमात्मा की भक्ति उनके उपदेश देव शास्त्र, गुरू मित्र, माता–पिता आदि हो सकते हैं। मंदिर, देव–स्तुति, तीर्थ, पुस्तकें यह सभी निमित्त साधन हैं, और स्वयं का पुरूषार्थ उपादान कारण या मुख्य उपाय कहे जा सकते हैं। उनकेअनुसार किसी देवी–देवता की कृपा आशीर्वाद, वरदान आदि कर्म बंधन से मुक्ति में तभी सहायक होते हैं, जब जीव का पुरूषार्थ सक्रिय होता है। निजी पुरूषार्थ के अभाव में बाह्य निमित साधन देव स्तुति कोई वरदान आदि काम नहीं आते। उन्होंने निजी पुरूषार्थ को ही प्रमुख उपाय माना है। मूकमाटी में स्थल स्थल पर उन्होंने निमित्त साधनों को उपकारक और आत्म पुरूषार्थ को कारक कहकर जीव की कर्म मुक्ति का विकास दर्शाया है।

मुक्ति की इच्छुक जीवात्मा (मूकमाटी) के आत्म विकास में कुंभकार (गुरू) गधा (वो भावी व्यक्ति), श्रावक (सेठ), रस्सी (चर्या) आदि अनेक उपकारक या निमित्त साधनों को उन्होंने दिग्दर्शित किया है, और इन्हें अनिवार्य भी माना है किन्तु प्रमुखता निजी पुरूषार्थ को ही दी है। उनके अनुसार निजी पुरूषार्थ के बिना बाह्य साधनों काकोई भी मूल्य नहीं होता। उपकारक रस्सी का मानवीकरण करके उसके प्रति कृतज्ञता का भाव प्रगट करते हुये धर्म निष्ठ श्रावक परिवार कहता है – नहीं नहीं अयि विनयावति परहित संपादिते तुम्हारी कृपा का परिणाम है यह जो हम पार पा गये, आज हमें किसकी क्या योग्यता है, किसका कार्यक्षेत्र कहां तक है सही सही ज्ञान हुआ केवल उपादान कारण ही कार्य का जनक है, यह मान्यता दोषपूर्ण लगी कि निमित्त की कृपा भी अनिवार्य है। हां, हां उपादान कारण ही कार्य में ढ़लता है, यह अकाट्य नियम है किन्तु इसके ढ़लने में निमित्तका सहयोग भी आवश्यक है। आचार्य विदयासागर के अनुसार यद्यपि उपदान कारण (जीवात्मा स्वयं) कर्म निर्जरा (कर्म परमाणुओं को आत्मा से विलग करने का पुरूषार्थ) करता है। किन्तु परम मित्र के रूप में निमित्त कारण ही सहायक के रूप में उपस्थित रहता है। निमित्त साधन आत्म पुरूषार्थी का साथ तब तक देता है जब तक कि उसकी मंजिल एकदम निकट नहीं आ जाती।

आत्म कल्याण हेतु दया और वात्सल्य की उपयोगिता बदलाते हुये आचार्य विदयासागर ने यह विचार प्रगट किया है कि दया एक सात्विक भाव है, यह आत्म कल्याण में अत्यधिक उपयोगी है। किन्तु इसकी अपनी सीमा है करूणा के दो प्रकार होते हैं एक विषलोपनी दिशाबोधनी दूसरों पर करूणा करने वाला आत्म स्वभाव से च्युत, पर को ग्रहण करने वाला, बहिर्मुखी अवश्य होता है। अतः उसकी स्थिति बहिरात्मा की होती है। वह श्रेष्ठ गतियों में जाता है किन्तु पूर्ण कर्म निर्जरा (कर्म परमाणुओं से पूर्ण छुटकारा) उससे नहीं होती।

अतः हम कह सकते हैं कि करूणा एक सीमा तक ही मुक्ति के मार्ग में सहायक है। करूणा के बल पर पूर्ण मुक्ति संभव नहीं। इसी तरह वात्सल्य भाव भी सीमित शक्ति वाला होता है। वह स्वच्छ जल की भांति जीव को सुरक्षित रखता है, सौम्य बनाता है किन्तु आत्मा को परमात्मा बनाने की पूर्ण क्षमता उसमें नहीं होती।

कर्म बंधन से मुक्ति साधना

आचार्य विदयासागर ने आत्मा को कर्म बंधन से मुक्त करने के लिये जिस साधना का निर्देश दिया है उसे रत्नत्रय कहा जाता है। इस रत्नत्रय का अर्थ होता है सम्यक दर्शन, सम्यक ज्ञान तथा सम्यक चरित्र की साधना। इन तीनों तत्वों से मिली हुई साधना को रत्नत्रय साधना इसलिये कहा जाता है क्योंकि उक्त तीनों तत्व जीव के पुरूषार्थ में उसी प्रकार अमूल्य हैं जिस तरह सांसारिक जीवों के लिये रत्न अमूमल्य माने जाते हैं। सम्यक दर्शन से उनका

तात्पर्य सम्यक श्रद्धा से है यद्यपि विवेचन की सुविधा के लिये इन तीनों तत्वों का वर्णन अलग–अलग किया जाता है किन्तु ये आपस में एक दूसरे से सीढ़ी की तरह जुड़े होते हैं। जिस तरह सीढ़ी में दोनों ओर के भागों में सीढ़ियां जुड़ी होती हैं तभी सीढ़ी कहलाती हैं, अलग होने पर यह सीढ़ी नहीं कहलाती। इसी प्रकार रत्नत्रय साधना में सम्यक श्रद्धा, सम्यक ज्ञान और सम्यक चरित्र आपस में जुड़े होते हैं। सम्यक श्रद्धा से उनका तात्पर्य सच्चे देव शास्त्र गुरू के द्वारा निरूपित छह द्रव्यों तथा सात तत्वों से संबंधित ज्ञान केप्रति पूर्ण समर्पण भावी श्रद्धा से है। उनकी मान्यता है कि निर्ग्रंथ या लोभ रहित साधु भी अंतरंग बहिरंग भोग सामग्री की चाह से मुक्त होता है। इसलिये उसकीशिक्षाएँ विश्वसनीय हैं। लौकिक वस्तुओं का रंचमात्र भी लोभ रखने वाला व्यक्ति सच्चा गुरू नहीं हो सकता, अतः सम्यक आस्था के लिये लौकिक कामनाओं से रहित गुरू की वचनावली ही कर्म मुक्ति की साधना में मददगार हो सकती है। ऐसे गुरू के प्रति आस्था के महत्व को मूकमाटी में दर्शाते हुये आचार्य विद्यासागर कहते हैं कि सच्चे साधु की संगति में आकर शुक्तिका मुक्तिका में बदल जाती हैं। सच्चे गुरू के प्रति आस्था से वास्ता होने पर मुक्ति का रास्ता स्वयं भक्त की सेवा में लग जाता है। लेकिन यह दृढ़ आस्था भी तब तक कारगर नहीं होती, जब तक वह साधना का रूप धारण नहीं कर लेती। इसलिये सम्यक श्रद्धा होते ही सम्यक आचरण करने का पुरूषार्थ प्रारंभ कर देना चाहिये। इस सम्यक आचरण के प्रथम सोपान के रूप में आचार्य विदयासागर ने यह बतलाया है कि अपने में उपस्थित क्रोध, मान, माया, लोभ की प्रवृत्तियों को मंद से मंदतम करते जाना चाहिये। इससे आत्म प्रदेशों में नवीन कर्म परमाणुओं का बंधन नहीं हो पाता। नवीन कर्म बंध तो रोकना संवर तत्व की प्राप्ति कहलाता है। इसके पश्चात आत्मा में संचित पूर्व कर्म परमाणुओं को बाहर निकालने का कार्य करना होता है। कर्म परमाणुओं को आत्मा से बाहर निकालने के पुरूषार्थ को आचार्य विदयासागर ने निर्जरा (कर्म निर्जरा) कहा है।

इस तरह संवर और निर्जरा तत्वों को प्राप्त करने के लिये आचार्य विदयासागर ने निर्लोभी योग्य प्रशिक्षक की शरण में जाने की आवश्यकता पर बल दिया है। मूकमाटी में मोक्षार्थी शिष्य संपूर्ण समर्पण भाव से सद्गुरू की शरण में जाता है। सद्गुरू स्वयं उन्हीं शिक्षाओं का आचरण करता है जिन शिक्षाओं को वह शिष्य को देना चाहता है मोक्ष मार्ग की यह शिक्षाएँ, गुप्ति, समिति, धर्मानुप्रेक्षा, परिषहजय औरचारित्र कहलाती हैं। आचार्य विद्यासागर ने अपने संपूर्ण ग्रंथों में इन्हीं मुक्ति के उपायों को आत्मसात करने का निर्देश दिया है। मूकमाटी में कुंभकार गुरू अपने शिष्य के जीवन को इन्हीं उपायों के अनुरूप जीवनचर्या का अंग बनाकर विकसित करता है। इन उपायों का संक्षिप्त परिचय निम्नानुसार है –

1. गुप्ति, मन, वचन, काय की प्रवृत्तियों से आत्मा की रक्षा करने वाले उपाय को गुप्ति कहा जाता है। इसके तीन भेद हैं – मनोगुप्ति अर्थात मन को क्रोध, मान माया लोभ से बचाये

रखने का अभ्यास, असत्य वाणी को रोकने हेतु मौन रहना वचन गुप्ति कहलाता है तथा इंद्रियों को वश में रखकर हिंसा की क्रियाओं को रोकना हिंसा के वातावरण से दूर रहना काय गुप्ति है।

समिति : हिंसा को रोकने वाली सावधानियों के नियम समूह को समिति कहा जाता है। यह पांच प्रकार की होती है। इर्या समिति, भाषा समिति, एषणा समिति, आदान निक्षेपण समिति और प्रष्ठिापन समिति।

इर्या समिति :किसी भी जीव जंतु को क्लेश न हो इस प्रकार चार हाथ आगे जमीन देखकर चलना इर्या समिति कहलाता है।

भाषा समितिः सत्य हितकारी वचनों को मृदु ढंग से बोलना भाषा समिति कहलाता है।

एषणा समितिः शुद्ध निर्दोष अहिंसक आहार सामग्री विधि पूर्वक ग्रहण करना एषणा समिति कहलाता है।

आदान निक्षेपण समितिः जीव हिंसा न हो ऐसी सावधानी रखते हुये वस्तुओं को उठाना रखना, आदान प्रदान करना आदान निक्षेपण समिति कहलाता है।

प्रतिष्ठापन समितिः भली–भांति देखकर हिंसा को बचाते हुये मल–मूत्र विर्सजन करना प्रतिष्ठापन समिति कहलाती है।

धर्मः यहाँ धर्म को व्यापक अर्थ में न लेकर संवर निर्जरा के साधन रूप में ग्रहण किया गया है। आत्मा के साथ नवीन कर्म परमाणुओं का संयोग रोकने एवं पूर्व से संयुक्त परमाणुओं को विलग करने के लिये जिस सदाचार नियमावली का पालन किया जाता है उसे सदाचरण नियमावली को धर्म कहा गया है। धर्म तो एक ही है लेकिन इसके दस लक्षण बताये गये हैं जो निम्नानुसार हैं – उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम शौच, उत्तम सत्य, उत्तम संयम, उत्तम ताप, उत्तम त्याग, उत्तम अकिंचन्य और उत्तम ब्रह्मचर्य। इनसे संबंधित नियम और भावनाएँ आत्मा को अशुभ कर्मों के बंध को रोकने के साधन हैं। ये ख्याति, लाभ, पूजा प्रतिष्ठा की इच्छाओं से मुक्त होते हैं। इसीलिये इनमें उत्तम विशेषण का प्रयोग कियागया है।

उत्तम क्षमा : क्रोध की परिस्थिति उत्पन्न होने पर भी मन में क्रोध न आने देना उत्तम क्षमा कहा जाता है।

उत्तम आर्जव : मन में छल कपट के भाव न आने देना और ऐसी प्रवृत्तियों को मन में स्थान न देना जिन्हें छुपाने की आवश्यकता हो उत्तम आर्जव कहलाता है।

उत्तम मार्दव : अपनी जाति, कुल, रूप, ज्ञान, तप, वैभव प्रभुत्व को सर्वश्रेष्ठ मानकर घमंड करना और दूसरों की जाति, कुल, रूप, ज्ञान, तप आदि को नीचा दिखाना इस प्रकार की प्रवृत्ति से बचना मार्दव धर्म कहलाता है।

उत्तम शौच : यहां शौच का अर्थ लोभ की मलिनता से मन एवं आत्मा को बचाना है। अपने मन में आत्मा को छोड़कर बाह्य पदार्थों की प्राप्ति की इच्छाओं को रोकना उत्तम शौच धर्म है।

उत्तम सत्यः दूसरों के मन में दुख उत्पन्न करने वाले वचनों का त्याग कर सच्चे (निर्लोभी) देवशास्त्र गुरू शिक्षाओं को हित, मित, प्रिय वचनों के द्वाराप्रगट करना सत्य धर्म है।

वस्तु को अनेक दृष्टिकोणों से देखना और स्वीकार करना तथा स्यादवाद शैली में विनयपूर्वक अपने मत को रखना दूसरे के मत को आदर से स्वीकार करने की इच्छा प्रगट करना इस धर्म के पालन में सहायक हैं।

उत्तम संयम : पांचों इंद्रियों की इच्छाओं पर नियंत्रण लगाना उत्तम संयम धर्म कहलाता है।

उत्तम तपः इच्छाओं के निरोध को उत्तम तप कहा जाता है। इसके अंतर्गत छह आतंरिक तप नियम तथा छह बाहय तप नियम आते हैं।

उत्तम त्याग : आत्मा से इन वस्तुओं की चाह करना परिग्रह है और इस परिग्रह की निवृति को त्याग कहा जाता है। अपने ज्ञान, धन आदि को दूसरों के हित में लगाना उत्तम त्याग धर्म कहलाता है।

उत्तम अकिचन्य : मैं एकाकी शुद्ध–बुद्ध आत्म तत्व हूँ आत्मा को छोड़कर धन–धान्य बंधु परिवार, मित्र आदि यहां तक कि हमारा शरीर भी हमारा नहीं है। ऐसी धारणा बनाना उत्तम अकिंचन्य धर्म है।

अनुप्रेक्षा (बारह भावनाएँ)–निज आत्मा को छोड़कर बाह्य पदार्थों से विरक्ति उत्पन्न करने वाले मानसिक चिंतन को अनुप्रेक्षा कहा जाता है। यह बारह प्रकार की मानी गई है। इन अनुप्रेक्षाओं (बारह भावनाएँ) के चिंतन से वैराग्य उत्पन्न होता है। अतः अनुप्रेक्षाओं को वैराग्य की माता कहा जाता है।

परिषह जय : आत्मा को कर्म बंधन से मुक्ति की साधना में स्थिर रखने के लिये प्रतिकूल विचारों और परिस्थितिजन्य बिघ्न–बाधाओं को मन में बिना क्रोध, माया लोभ के लाये सहन करने के अभ्यास को परिषह जय कहा जाता है। इनके 22 प्रभेद किये गये हैं।

चारित्र : कर्मों का संवर (नवीन कर्म बंध रोकना) और निर्जरा (पूर्व संचित कर्म परमाणुओं को आत्मा से विलग करना) के लिये आचरण संबंधी जिन नियमों को पालन करना आवश्यक होता है, उन्हें चारित्र कहा जाता है। चारित्र आत्मा शुद्धता में स्थिर रहने का प्रमुख उपाय माना गया है। इसके पांच प्रभेद किये गये हैं। सामायिक, छेदोस्थापना, परिहार विशुद्धि, सूक्ष्म साम्पराय, तथा यथाख्यात। आचार्य विदयासागर द्वारा अंगीकृत जैन दर्शन केउक्त तत्वों को अपनाने से आत्मा समस्त कर्म परमाणुओं से शुद्ध होकर अनंत ज्ञान, अनंत आनंद, अनंत शक्ति की अवस्था ग्रहण कर लेता है। ऐसे पूर्ण शुद्ध जीव का फिर कभी कर्मबद्ध पर्याय में जन्म मरण

आदि नहीं होता। इसी दशा को मोक्ष दशा, मुक्ति की अवस्था या नर से नारायण बनना कहा जाता है।

आचार्य विद्यासागर के सामाजिक विचार : मानव समाज की इहलौकिक समस्या के संबंध में भी आचार्य विदयासागर ने गहन चिंतन किया है। उन्होंनें समाज और व्यक्ति के इहलौकिक परिष्कार को आध्यात्मिक विकास काही एक पूर्व पड़ाव या सीढ़ी माना है। उनकी मान्यता है कि इस लोक में एक श्रेष्ठ नागरिक बने बिना आध्यात्मिक यात्रा प्रारंभ करने की पात्रता भी नहीं आयेगी।

उन्होंने प्रमुख रूप से निम्नांकित समस्याओं से संबंधित विचार अपनी काव्य रचनाओं एवं मूकमाटी में प्रगट किये हैं।

पूंजीवादी शोषण तथा आर्थिक विषमता की खाई : आचार्य विद्यासागर के अनुसार धन संचय की लिप्सा ने आधुनिक समाज में एक मनोरोग का ही रूप धारण कर लिया है। इसके कारण संपन्न व्यक्ति भी और अधिक संपत्ति बढ़ाने के लिये दूसरों के धन पर गिद्ध दृष्टि लगाये रहता है। वह साधनहीन लोगों को कम वेतन देकर अधिक कीमतीश्रम लेता है। वह टैक्स चोरी कर सार्वजनिक धन की चोरी करता है, कालाबाजारी कर के जमाखोरी करके वह आम जनता के धन की ठगी और लूट करता है। मध्यम वर्ग के कर्मचारी धन लिप्सा से प्रेरित होकर रिश्वत और घूस लेते हैं। मध्यम वर्गीय व्यापारी मिलावट करके लोगों के प्राणों से खेलते हैं, गरीब लोग भी चोरी, ठगी के द्वारा धन इक्टठा करना चाहते हैं। विद्यासागर जी ने अमीर और गरीब सबकी धन लिप्सा को परतंत्र जीवन की आधारशिला कहा है। उनके अनुसार यह धन लिप्सा गरीबों और अमीरों के ऐसे वर्ग बना देती है कि जिससे वर्ग संघर्ष हो जाता है। इस धन लिप्सा के कारण पूरे समाज की सुखशांति नष्ट होती है। धन का यह लोभ हिंसा, चोरी, झूठ आदि अनेक पापों का बाप है अर्थात अपराधों को पैदा करने वाला है। विद्यासागर जी ने मूकमाटी में यह दर्शाया है कि धन संचय को संस्कृति का आधार बनाकर चलने वाला पूंजीपति वर्ग लोगों में यह प्रचार करता है कि उसकेद्वारा विकास हो रहा है, जो सुख शांति के लिये आवश्यक है। किन्तु आचार्य विद्यासागर के अनुसार यदि आर्थिक विकास व्यक्तिगत लोभ पर आधारित होगा तो इससे आर्थिक विषमता बेरोजगारी शोषण और भ्रष्टाचार, गरीबी–अमीरी की खाई और चोरी तथा आतंकवाद जैसी बुराईयां पैदा होंगी। केवल चोर चोर चिल्लाने से या चोरों के विरूद्ध कानून बनाने से चोरी बंद नहीं होगी। बल्कि चोरी को प्रेरित करने वाली परिस्थितियों को परिवर्तित करना होगा। उनके अनुसार आर्थिक विकास प्रजा के हित पर केंद्रित होना चाहिये न कि व्यक्तिगत लोभ पर। परहित और सार्वजनिक हित पर सबकी नजर होगी तभी आर्थिक अपराध कम होंगे।

युद्ध की समस्या : आचार्य विद्यासागर की दृष्टि में राष्ट्र–राष्ट्र के बीच युद्ध की भावना तभी भड़कती है जब व्यक्तिगत लोभ सामूहिक लोभ भी बन जाता है। एक समूह का लोभ दूसरे

समूह को लूटने के लिये या उससे मुनाफा कमाने के लिये राष्ट्रीय या राज्य केनाम पर अपनी सीमा का विस्तार करना चाहता है। पूंजीवादी प्रवृत्ति के लोग आर्थिक साम्राज्य केविस्तार हेतुदूसरे देशों के धन पर आंख गड़ाते हैं और राष्ट्र प्रेम के नाम पर उन्हें अपने अधीन करने के लिये युद्ध का वातावरण बनाते हैं। अर्थ कमाने के लिये दूसरे देशों को हथियार बेचना, मांस निर्यात करना, आदि ऐसी ही समस्यायें हैं। उनके माध्यम मे व्यक्तिगत और सामूहिक लोभ पर नियंत्रण के बिना युद्ध की समस्याओं का समाधान भी नहीं हो सकता।

आतंकवाद की समस्या : आचार्य विद्यासागर ने अपनी काव्य कृतियों में यह विचार प्रगट किया है कि अंध–विश्वासों के कारण लोगों की आस्था भटकी हुई रहती है। इस भटकी हुई आस्था को लोग सर्वश्रेष्ठ धर्म समझते हैं और दूसरों के धर्म आदर्शों को मिथ्या बताकर उन पर अपना मत हिंसा के द्वारा डरा धमकाकर लादना चाहते हैं। यदि लोग अनेकांत दृष्टि को अपनाकर दूसरों के दृष्टिकोण को समझने की कोशिश करें और उनमें विद्यमान सत्य के अंश का सम्मान करें तो आतंकवादी हिंसा समाप्त हो सकती है। अपराध की परिस्थितियां और मतवादी हठवाद को वे आतंकवाद की जड़ मानते हैं। अतः प्रेम और साहचर्य के द्वारा लोगों का हृदय जीतकर ही आतंकवादी प्रवृत्ति पर विजय पाई जा सकती है।

दहेज समस्या : आचार्य विद्यासागर ने मूकमाटी काव्य के माध्यम से दहेज समस्या के मूल कारण धन लोभ की ओर संकेत किया है। उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा है कि धन संग्रह वृत्ति को लोग सांस्कृतिक आवरण से ढ़कने की कोशिश करते हैं। धन के लोभ ने मानव को इतना क्रूर बना दिया है कि वह वधू पक्ष से कम धन मिलने पर बहुओं की हत्या करने में संकोच नहीं करता। मूकमाटी में उन्होंने खटमल और मच्छर की वार्ता के माध्यम से यह दर्शाया है कि खटमल और मच्छर तो भूख मिटाने के लिये रक्तपान करते हैं लेकिन सभ्य मानव ने तो परधन को लूटने के लिये पाणिग्रहण संस्कार को प्राणग्रहण संस्कार में बदल दिया है।

विवाह संस्कार एक पवित्र प्रथा : आचार्य विद्यासागर के अनुसार विवाह संस्कार को अनेक धर्म साधक काम–वासना मय होने के कारण एकदम त्याज्य मानते हैं। आचार्य विद्यासागर के मत में विवाह संस्कार भी एक धार्मिक मान्यता प्राप्त संस्कार है क्योंकि इससे व्यक्ति की काम वासना नियंत्रित करने में मदद मिलती है। वास्तव में पाणिग्रहण संस्कार भारतीय संस्कृति का संरक्षक और उन्नायक संस्कार है।

महिला सशक्तिकरण : आचार्य विद्यासागर ने धर्म के क्षेत्र में फैली इन धारणाओं पर कुठाराघात किया है कि नारी जाति पुरूष की धर्म साधना में बाधक है और उसे पाप की ओर आकर्षित करती है। उनके मत के अनुसार वे लोग अज्ञानग्रस्त हैं जो नारी को हेय, अपवित्र या कमजोर मानकर उपेक्षित करते हैं। उनके अनुसार नारी वात्सल्य और करूणा का पुंज होती है। इस दृष्टि से पुरूष से श्रेष्ठ है क्योंकि यह दोनों ही गुण नारी में अधिक पाये जाते हैं। उनके मत में नारी स्वच्छंद पुरूष की काम वासना को नियंत्रित करने का निमित्त है। वह

अनेक अर्थों में पुरूष की पाप की पालड़ी को भारी नहीं होने देती माता के रूप में नारी पुरूष की प्रथम गुरू होती है, वह वात्सल्य और सेवा के कारण पुरूष के जीवन में मंगल महोत्सव लाती है।

ज्ञान प्रखरता के कारण नारी पुरूष मन की तामसी प्रवृत्तियों को नष्ट करती है, वह लक्ष्मी स्वरूपा है। वह धर्म–अर्थ और काम पुरूषार्थों से पुरूष की आत्मा को पवित्र करती है। नारी में क्रोध की न्यूनता और क्षमा की अधिकता भीपाई जाती है।

साहित्य संबंधी विचार : आचार्य विद्यासागर ने साहित्य और साहित्य के लक्ष्य की ओर संकेत करके साहित्यकारों का भी मार्ग दर्शन किया है। उनके अनुसार साहित्य वही है जो अपने शब्द विधान द्वारा हित का समुद्भव संपादन कर सकें। सुख से रहित शब्द विधान को आचार्य विद्यासागर सार शून्य शब्द झुंड मानते हैं। उन्होंने साहित्य को दो वर्गों में रखा है एक वर्ग के अंतर्गत वीर, हास्य, करूण, श्रृंगार आदि लौकिक सुख उत्पन्न करने वाला साहित्य है, दूसरे वर्ग में वह साहित्य है जो शाश्वत सुख अर्थात आत्मा को कर्म–बंधन से मुक्त करने में सहायक हो। उनके अनुसार शांत रस उत्पन्न करने वाला साहित्य ही स्थायी मूल्य का साहित्य है। अन्य रसों की साहित्य रचनाएँ सम–सामरिक दृष्टि से मूल्य धारण करती हैं। किन्तु शांत रस का साहित्य अमूल्य होता है। आचार्य विद्यासागर की दृष्टि में साहित्य रचना में डूबने वाला सहृदय लेखक से भी अधिक रसास्वादन करता है। साहित्य के श्रोता या पाठक में गुणों की पहचान करने की क्षमता होनी चाहिये अन्यथा वह श्रेष्ठ रचना का भी अनादर कर देगा। विद्यासागर जी ने साहित्य से संगीत का प्रगाढ़ संबंध माना है। उनकी मान्यता है कि संगीत की उत्पत्ति स्वरों से होती है स्वर निर्जीव होते हैं। अतः संगीत रस–राज शांत रस की बराबरी नहीं कर सकता।

चिकित्सा संबंधी विचार : आचार्य विद्यासागर के मत में रोग का प्रमुख कारण प्रकृति (देह संचालन के नियम) के विरूद्ध चलना है जब तक जीव का देह के साथ संबंध है तब तक उसे उसके संचालन के नियमों का पालन अनिवार्य रूप से करना चाहिए। अध्यात्म साधना का अर्थ शरीर को कष्ट देना नहीं है क्योंकि शरीर (प्रकृति) अध्यात्म साधक को साधना की मंजिल तक पहुंचने में साथ देती है। इसलिये, अपने साथी शरीर को स्वस्थ रखने के नियमों का पालन अवश्य करना चाहिये। रोग परीक्षण हेतु आचार्य विदयासागर ने नाड़ी विज्ञान की महत्ता को स्वीकार कियाहै। यद्यपि उन्होंने औषधि को रोग दूर करने में सहायक माना है। फिर भी वे दवा से अधिक पथ्य पर ध्यान देने की आवश्यकता पर बल देते हैं। चिकित्सा की विभिन्न पद्धतियों में वे प्राकृतिक उपचार को वे सर्वप्रमुख मानते हैं क्योंकि प्राकृतिक चिकित्सा मितव्ययी होने के कारण गरीब अमीर सबको निरोग बनाती है। इससे सेवन कर्ता पर प्रतिकूल प्रभाव भी नही पड़ते। प्राकृतिक चिकित्सा की अनेक विधाओं में उन्होंने मिट्टी चिकित्सा को सर्वाधिक उपयोगी माना है।

लोकतंत्र संबंधी विचार : आचार्य विदयासागर ने लोकतंत्र को एक श्रेष्ठ राज्य प्रणाली माना है किन्तु भटके हुये मत पर आधारित लोकतंत्र को वे भीड़ तंत्र कहते हैं। उनकेअनुसार समझदारों का बहुमत ही सच्चे लोकतंत्र में सहायक हो सकता है। उनके अनुसार बहुमत यदि सत्य पर आधारित नहीं होगा तो वह भीड़ तंत्र में बदलकर विनाशकारी हो जाता है। बहुमत वाले पक्ष का यह दायित्व है कि वह अल्पमत के लोगों के दृष्टिकोण को समझे और उनके सुझावों को अपनी नीतियों का अंग बनाये। प्रजातंत्र का अर्थ भीड़ का मनमाना तंत्र नहीं है।

.....

यूनिट 3–ब

रचना संसार

आचार्य विद्यासागर ने अपने साहित्य–सृजन का आरंभ उन धर्माचार्यों की स्तुतियों से किया है जिनका संबंध उनकी गुरू शिष्य परंपरा से रहा है। आचार्य विद्यासागर के दीक्षागुरू ज्ञान सागर जी थे, ज्ञानसागर के दीक्षागुरू आचार्य शिवसागर जी ने श्रीवीर सागर जी से गुरूदीक्षा ली थी और वीरसागर जी के गुरू आचार्य शांतिसागर जी थे। कवि विद्यासागर की काव्य साधना का प्रथम पुष्प श्री शांतिसागर जी महाराज की स्तुति के रूप में खिला। यह रचना वसंततिलिका छंद में निबद्ध है। इस कृति में शांति सागर जी के जन्म स्थान और माता पिता का परिचय देते हुये उनके व्यक्तित्व का भावोत्तेजक वर्णन प्रस्तुत है।

निश्चिंत हो निडर निश्छल, नित्य भारी
थे ध्यान मौन धरते तप औ करारी
थे शीत ताप सहते गहते न मान
वे सर्वदा स्वरस का करते सुपान

श्री वीर सागर स्तुति–

यह रचना ब्यालीस वसंततिलिका छंदों में निबद्ध है। इसमें वीरसागर जी के जन्म स्थान पारिवारिक परिचय, वैराग्य और सन्यास की अवस्थाओं का वर्णन है।

आचार्य वीरसागर के आत्म–पर–कल्याणकारी कार्यों की भव्य झांकी इसमें प्रस्तुत की गई है। कवि ने इस कृति में अपने श्रद्धेय नायक के दिव्य गुणों को आलोकित करने में सफलता प्राप्त की है। इनकी भक्ति भावना आरोपित नहीं लगती और सहदयों का तादाम्य संबंध कवि के द्वारा प्रतिपाद्य भावों के साथ हो जाता है। यथाः

श्रीवीरसागर सुधीर महानवीर
थे नीर राशि–सम आप सदा गंभीर
स्वामी सुदूर करते जग–जीव–पीर
पीते सदा परम–पावन–धर्मनीर
वात्सल्य था हृदय में पर था न शल्य
स्वामी अतः अवनि में तुम तोष कल्य
आरंभ– दंभमय था न चारित्र तेरा
तेरे रहे चरण में यह शीश मेरा

आचार्य शिवसागर की स्तुति : यह काव्य रचना 22 मंदाक्रांता छंदों में निबद्ध है। इसमें उन्होंने मुनि शिवसागर की मोक्ष साधना का ऐसा मार्मिक चित्र प्रस्तुत किया है कि वह श्रद्धा भक्ति के संवेगों को स्थाई भावों को रूप दे देता है। उसे पढ़कर पाठक भक्तिरस में डूबे बिना नहीं

रहते। कवि ने शिवसागर जी के व्यक्तित्व का विकास दिखलाने के लिये उनके माता पिता के स्नेह वात्सल्य की वह झांकी प्रस्तुत की है जिस पर विजय प्राप्त किये बिना आध्यात्म साधना के पथ पर एक कदम भी नहीं रखा जा सकता। युवावस्था आने पर माता पिता वात्सल्य भाव से भरकर पुत्र के समक्ष विवाह का प्रस्ताव रखते हैं तब पुत्र अपनी मोक्ष साधना के संकल्प को प्रगट करते हुये कहता है कि माँ मेरा विवाह करना चाहती हो तो उस रमणी से करो जो शाश्वत है जिसके सामने न कोई सुंदर है और जिसका सौंदर्य कभी नाश को प्राप्त नहीं होगा। सुनकर माता पिता हतप्रभ हो जाते हैं। दीक्षा के उपरांत मुनि शिवसागर जी जिन महान गुणों को धारण करते हैं कवि ने उन्हें भी ऐसे सजीव ढंग से प्रस्तुत किया है कि पाठक उसे पढ़कर भक्तिभावना से विभोर हो उठता है।

आचार्य ज्ञान सागर स्तुति : इस काव्य ग्रंथ में 20 पद्यों वाले 16 मात्रिक छंदों का उपयोग किया गया है। इसमें मुख्य रूप से भक्तिभावना का ही निरूपण है। कवि यह प्रतिपादित करता है कि गुरू ज्ञान सागरजी ने मुझे अंकिचन को पाप दल से बाहर निकालकर सन्मार्ग पर लगाया। यदि गुरू ज्ञान सागर जी मुझ पर उपकार न करते तो मैं मोह के बंधन को काटकर आत्मसाधना की भूमि पर कदम नहीं बढ़ा पाता। गुरू ज्ञान सागर जी ने ही मेरे गले मेंसम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यगचारित्र रूप एकता की माला पहनाई है। गुरू ज्ञान सागर जी की कृपा से ही मुझे अपने वास्तविक घर का (आत्मा का) पता ठिकाना मिला। मेरे हृदय में सम्यक्व का फूल खिला। गुरू ज्ञान सागर ने ही मुझे समयसार ग्रंथ के गूढ़ तत्व से अवगत कराया और मेरे अंधेपन और बहरेपन को मिटाया। जिस प्रकार सूर्य किसी स्थान विशेष को प्रकाशित न कर समस्त संसार के अंधकार को मिटाता है उसी प्रकार मेरे गुरू ज्ञान सागर जी ने स्व–पर हितकारी ग्रंथ लिखकर मुझे इंद्रियदमन कषाय शमन और निशि–दिन आत्म रमण के आचरण द्वारा संसार भर का कल्याण किया।

शारदा स्तुति : इस काव्य ग्रंथ में 12 द्रुतविलम्बित छंदों का उपयोग किया गया है। इसकी रचना 1971 में हुई थी। पहले यह संस्कृत में थी। इसमें शारदा को केवल ज्ञान प्राप्त परमेश्वर की वाणी माना गया है और यह कहा गया है कि उसका प्रसारण जगत कल्याण के लिये किया गया है। बहुत वर्षों बाद सामान्य पाठकों के उपयोग को देखते हुये इसे हिंदी में प्रस्तुत किया गया। इनमें स्तुतियों के अतिरिक्त आत्म उदबोधन शैली में अपने आप को मोक्ष की साधना में सक्रिय करने के भाव प्रगट किये गये हैं।

निजानुभव शतक : यह कृति 104 पद्यों में निबद्ध है। इसका प्रथम पद्य प्रार्थना परक है। इसमें तीर्थंकर ऋषभनाथ से रक्षा और अलौकिक सुख की प्रार्थना की गई हैं। द्वितीय पद्य में गुरू वंदना है, तृतीय पद्य में जिनवाणी स्तुति की गई है। चतुर्थ पद्य में कृति के उददेश्य पर प्रकाश डाला गया है। कवि ने इसमें जीव का लक्षण उपयोग बताया है। उपयोग शब्द को उन्होंने जानने, देखने के अर्थ में प्रयुक्त किया है। यह शुद्ध, शुभ और अशुभ तीन प्रकार का होता है।

अशुभ उपयोग जीवन को पापमय बनाता है और दुखदायी योनियों में भटकाता है। शुभ उपयोग स्वर्ग तक के सुख प्रदान करता है लेकिन यह नाशवान है। लेकिन शुद्ध उपयोग जीव को कभी नष्ट न होने वाले निराकुल सुख को देने वाला है। शुद्ध उपयोग के द्वारा ही आत्मा संसार बंधन से मुक्त होकर परम शुद्ध आत्मा बनता है। कवि की दृष्टि में सांसारिक सुख वास्तविक नहीं है शरीर से ममत्व मानने वाली बुद्धि से ग्रस्त होने पर ही जीवात्मा इन सुखों की ओर आकर्षित होता है। लेकिन, यह आत्मा का घात करने वाले हैं और विष के समान हैं। कवि के अनुसार आत्म–स्वभाव अनंत ज्ञान एवं अनंत सुख है। याचकता, कुटिल परिणाम तथा पर पदार्थों से ममत्व रखने के कारण होता है। यह कर्मबद्ध आत्मा का विकारी भाव है, इस विकारी भाव का त्याग कर ही हम परमसुखकारी स्वभाव भाव को ग्रहण करते हैं। कवि ने इस कृति के माध्यम से यह बतलाया है कि आत्मा अनेक देहधारण करके इस संसार में जो बारबार जन्म लेता है उसका कारण अनादि मोह है। इस अनादि मोह से छुटकारा ही मोक्ष साधना है। कवि के अनुसार आत्मा का सुख आत्मा में ही रमण करने से मिलता है। सुख के लिये निज आत्मा के सिवाय उसे अन्य के आश्रय की आवश्यकता ही नहीं है। आत्मा ही ब्रह्मा है, आत्मा ही महेश है और आत्मा ही विष्णु (राम) है। मन की चंचलता को जीतकर जब वीतरागता आ जाती है तभी आत्मा निजस्वरूप को प्राप्त कर पाती है। इस कृति में प्रमुख रूप से निम्नांकित विषयों का निरूपण किया गया है।

कः समता भाव धारण करने का महत्व

खः शीतउष्ण परिषह पर विजय प्राप्त करने का महत्व

गः साधुता–असाधुता का अंतर

घः ध्यान समाधि

इः लौकिक मरण से निर्भयता

कर्म सिद्धांत के अनुसार पुण्य और पाप फल को अगले जन्मों में जीव को भोगना पड़ता है लेकिन यदि वीतराग भाव से उन कर्म फलों में राग द्वेष नहीं रखे जायें तो कर्मों की निर्जरा होती है अर्थात पुद्गल परमाणु आत्मा से अलग होते हैं। यथा :

तूने किया विगत में कुछ पुण्य–पाप
जो आ रहा उदय में स्वयमेव आप
होगा न बंध तब लौं जब लो न राग
चिंता नहीं उदय से बन वीतराग

दोहा दोहन : इस कृति में 137 दोहे हैं,इन्हें प्रतिपाद्य विषय के आधार पर सात वर्गों में विभक्त किया गया है। 1: तीर्थंकर वंदना 2: स्वर्ण बनूं छबिमान 3: ध्यान के गवाक्ष से 4: है अभिलाषा नाथ 5: हो जग का कल्याण 6: आत्म को पहचान 7: विविध।

यद्यपि ये दोहे समाज, राजतंत्र आदि से संबंधित न होकर पूर्णतया आध्यात्मपरक हैं तो भी इनकी काव्यकला उच्च कोटि की है। चौबीस तीर्थकरों में प्रत्येक की भक्ति वंदना हेतु दो–दो दोहे समर्पित किये गये हैं। इन रचनाओं के माध्यम से कवि ने यह भाव प्रकट किया है कि जिस तरह तीर्थंकरों ने इंद्रिय पर विजय करने वाला काम, क्रोध, लोभ को जीतने वाला पुरूषार्थ किया वैसा पुरूषार्थ यदि वैंसा ही हम भी करें तब हम भी वैसी शक्तियों के स्वामी बन सकते हैं। यद्यपि कवि ने तीर्थकरों के बाह्य व्यक्तित्व का चित्रण भी किया है लेकिन प्रमुखता उनके अंतरंग गुणों की ही है। अनेक दोहों में कवि ने अनेकांत सिद्धांत सम्यक दर्शन, सम्यक ज्ञान, सम्यक चारित्र के अंगों का महिमा सहित वर्णन भी किया है और उन्हें अपनाने की ललक भी उत्पन्न की है। जिन रचनाओं में कवि ने निजी भावनाओं को आत्म निवेदन शैली में प्रगट किया है वहां पर काव्यात्मक ऊंचाई बढ़ गई है। कविने संसार के भोग पदार्थों के त्याग और आत्मा को शुद्ध करने वाले पुरूषार्थ के उपायों को ग्रहण करने की चाह बार–बार प्रगट की है।

जैसे न तो सुर–सुख चाहता, शिव सुख की न चाह।
तव थुति सरवर में सदा, होवे मम अवगाह।।
रत्नत्रय में रह रहो, रहो राग से दूर
विद्यासागर तुम बनो, सुख पावो भरपूर।।
तजो रजो गुण साम्य को सजो भजो निजधर्म।
शम मिले भव दुख मिटे आशु मिटे वसुकर्म।
तन–मन से औ वचन से, पर का कर उपकार।
रवि–सम जीवन बस बने, मिलता शिव उपहार।।

नर्मदा का नर्म कंकर : सन 1980 में प्रकाशित इस काव्य कृति में छत्तीस मुक्त छंद रचनायें हैं। यह रचना शांत रस से आपूरित है। इसमें यह प्रतिपादित किया गया है कि सच्चा सुख भौतिक पदार्थों में नहीं बल्कि आत्मा में ही है। अपनी आत्मा को छोड़कर पर पदार्थों का अवलंबन लेने पर सुख के स्थान पर दुःख ही मिलता है। नर्मदा का नरम कंकर इस संग्रह की एक महत्वपूर्ण कविता है। इसमें कवि ने अपने को एक साधारण कंकर माना है और तीर्थकरों को अनंत ज्ञान, अनंत शक्ति और अनंत आनंद से संपन्न शंकर माना है। एक छोटा सा कंकर शंकर रूप तीर्थंकरों से प्रार्थना करते हुये कहता है कि आपने कर्म ग्रस्त अवस्था से अपने को निकालकर अनंत शक्ति रूप धारण किया है और मैं उस अनंत शक्ति की क्षमता होते हुये भी वैभवों से संघर्ष करते हुये जन्म मरण के लिये बाध्य हूँ। आप मुझे ऐसा निमित्त प्रदान करो कि मैं भी अनंत गुण संपन्न शंकर बन जाऊं। बचन सुंगध नामक कविता में भी कवि ने संसार जीव की कर्मबंधन की पीड़ा को प्रगट किया है और पूज्य की शरण में रहकर पूज्य बनने की अभिलाषा प्रगट की है कुछ कविताओं में कवि ने आत्म साधना से उत्पन्न उस आत्म विश्वास

को वाणी दी है जिस के बल पर उसे मिथ्यात्व के मगरमच्छों की परवाह नहीं रहतीं। उसके सारे भय समाप्त हो जाते हैं। उसके प्राण विकारों के भार से रहित होकर चेतना के आकाश में पहुंचते से लगते हैं। उसे यह अहसास होता है कि तपश्चर्या के द्वारा वासना का गुरूत्वाकर्षण प्रभावहीन हो गया है। कवि ने तीर्थंकरों को वीतराग परमात्मा कहा है। वीतराग का अर्थ होता है जिसे किसी से राग अथवा द्वेष नहीं होता, तो भी वात्सल्य के आवेश में कवि बालकों जैसी हठ की मुद्रा में कहता है कि हे परमहंस मेरा निवेदन आपको स्वीकार करना ही पड़ेगा अन्यथा मेरा मानस हंस आनंद की अपरिचित लहरों में बहता हुआ गजमुक्ताओं को पराजित करते हुये आपकी चंद्रमा जैसी श्वेतधवल नखपंक्तियों के मिष मोतियों को चुगने के लिये तत्पर क्यों है, प्रभू उत्तर दो।

मनमान मन जैसी कविताओं के माध्यम से कवि ने चंचंल मन को कर्मबंधन और कर्ममुक्त दोनों का कारण माना है। सामान्य तर्क बुद्धि से इस प्रकार की उक्तियों में विरोधाभास लगता है किन्तु कविता में स्पष्टीकरण है कि राग, द्वेष, मोह में लीन होकर जो मन बंधन का कारण होता है वही मन मोह अंतर्मुखी होकर स्व की ओर मुड़ जाता है और मुक्ति का साधन बन जाता है। श्रमण संत की भ्रामरी चर्या का काव्यात्मक वर्णन करते हुये कवि ने यह दर्शाया है कि गंधलोलुप नागिनों से वेष्टित चंदन वृक्ष से होकर गुजरने वाला एक भ्रमरदल ध्यान मग्न मुनि के चरणों में दर्शन को चला। लेकिन जैसे ही मुनिके चरणों की नखावली में उसे अपनी काली आकृति दिखी तो वह ग्लानि से भर गया । वह निरंतर विकार करता है लेकिन कहीं ठहर नहीं पाता।

डूबो मत लगाओं डुबकी : इस संग्रह में 42 कवितायें हैं। इसके उददेश्य पर प्रकाश डालते हुये कवि ने लिखा है कि अनुभूति की अनंत धरती पर जो घटना घटित हुई उसे जब आकार प्रकार मिला तो उसका नामकरण हुआडूबो मत लगाओ डुबकी। इस संग्रह की सभी कवितायेंपरम शांत रस को उद्वेलित करती हैं। इसे पढ़कर पाठक की चित्तवृत्ति आत्म–कल्याण के लिये उत्सुक हो जाती है। जैसा कि इस संग्रह के नाम से स्पष्ट है कि इन रचनाओं में आस्वादन हेतु डुबकी लगाने की आवश्यकता है। डूबकर तो स्वयं को खो देना है। अतः मुक्ति नहीं मिल सकती डुबकी लगाने पर ही रत्नों की खोज हो सकती है। संग्रह की कविताओं का संदेश है कि जीव अनादि काल से संसार रूपी समुद्र में डूबता उतराता दुःख झेलता निराश हो गया है। अब उसे विगत और भविष्य से संबंध विच्छेद कर सतचित आनंद धाम पूर्ण काम का स्वागत करना चाहिये। इस संग्रह की कुछ कविताओं के माध्यम से कवि ने भारतीय दर्शनों के इस विवाद को सुलझाने का भी प्रयत्न किया है कि ईश्वर जगत का कर्ता है या नहीं। कवि के अनुसार सभी पदार्थ शाश्वत हैं, आदि हैं, अनंत हैं लेकिन उनका पर्याय में परिवर्तन होता रहता है। पर्याय के परिवर्तन को देखकर यह विश्वास जम जाता है कि संसार के परिवर्तन का कर्ता ईश्वर है किन्तु ईश्वर चेतन है। अतः उस पर अचेतन का कर्ता

होने का आरोप व्यर्थ है। कवि के अनुसार चेतन का कर्ता चेतन और अचेतन का कर्ता अचेतन होता है। अतः जीव सुख–दुख के लिये ईश्वर को दोष या श्रेय देता है तो यह ठीक नहीं। वे कहते हैं :–

चेतन सेअचेतन का उद्‌भव/ कैसे हो संभव
क्या संभव है ? कभी....।
बो कर बीज बबूल/पाना रसाल रसपूर/भरपूर
कर्म मात्र से काम हो रहा
फिर ईश्वर किस काम आ रहा ?

कवि के अनुसारप्राणी के जन्म–मरण, दुःख सुख के लिये उसके कर्म ही उत्तरदायी हैं।

इंद्रियों को जीतकर सिद्ध परमात्मा के बिंब दर्शन का मार्ग भी आचार्य विद्यासागर ने कुछ कविताओं में बतलाया है। वे कहते हैं कि संसार में व्यक्ति की कुटिल दृष्टि कुटिल वस्तुओं पर जाती है लेकिन जब परमात्मा के दर्शन मूर्ति के माध्यम से होते हैं तो आराध्य के दर्शन पाकर वैसा ही बनने के भाव जाग्रत हो उठते हैं। उन्होंने दर्शाया है कि मुक्ति लोक–लोक में भगवान का मंदिर आकाश को चूमता है और प्रकाश द्वार धरती को चूम रहा है। जब तक मान के घोड़े पर बैठे रहेंगे तब तक प्रवेश असंभव है। इसलिये भगवान के निकट जाने की प्रथम शर्त यह है कि मान अपमान की भावना का त्याग कर दिया जाये। भीगे पंख वाली मक्खी का उदाहरण देकर भी उन्होंने क्रोध, मान, माया, लोभ से ग्रस्त व्यक्ति की ईश्वर के पास जाने की उडान की कठिनाई को समझाया है। वे कहते हैं कि जैसे भीगे पंख वाली मख्खी उड़ नहीं सकती वैसे ही क्रोध, मान, माया, लोभ की चिकनाहट जिन पंखों पर लगी होती है वह जीवन भी आध्यात्म की उड़ान नहीं भर सकता।

तोता क्यों रोता : इस कृति का प्रकाशन सन 1984 में हुआ था। इसमें 55 कवितायें संगृहीत हैं। इस संग्रह की कतिपय कविताओं में कवि ने मोक्ष की साधना हेतु सम्यक आस्था के महत्व को बतलाया है। इस संग्रह की अधिकांश कविताओं में समाज में व्याप्त विसंगतियों को दूर करने लिये उन पर कुठाराघात किया गया है। कवि का कहना है कि साधना के पथ में आस्था पाथेय का कार्य करती है। यदि आस्था का संबल है तो दूर की मंजिल भी निकट लगने लगती है, किन्तु विसंगतियां आस्था को गलत दिशा में ले जाती हैं। आज के समाज में विसंगतियों में धन देवी को सबसे सम्माननीय स्थान दिया है और उसके आगे सरस्वती को अपमानित होकर झुकना पड़ता है। चूंकि राग द्वेष युक्त विसंगतियां मनुष्य को लौकिक इच्छाओं का गुलाम बना देती हैं, इसलिये उसे सुख–शांति नहीं मिलती। सुख–शांति के लिये कवि ने यह मार्ग दर्शन किया है कि अनुचित धन अर्जन न किया जाये। अनुचित धन को कोई दान में देता है तो भी उससे पाप दूर नहीं होते। इससे तो निर्धन रहना ही बुद्धिमत्तापूर्ण है। कवि के मत में लौकिक इच्छायें चाहे धन की हों या यश की वे व्यक्ति को पाखंडी बना देती

हैं। धन, कंचन और लोकप्रियता के लालच में फंसकर अच्छा वक्ता भी गिरगिट की तरह अपना रंग बदल देता है और दर्शकों की इच्छानुसार गलत व्याख्या कर देता है। वे कहते हैं :

जिस वक्ता में धन/कंचन की आस
और/पाद पूजन की प्यास/जीवित है
वह/जनता का जमघट देख/ अवसरवादी बनता है
आगम/के भाल पर घूंघट लाता है
कथन का ढंग/बदल देता है
जैसे/ झट से/अपना रंग/बदल लेता है/गिरगिट।
नर से नारायण बनने के पुरूषार्थ में आचार्य विद्यासागर सांसारिक
इच्छाओं को बाधक मानते हैं और उससे

बचने का उपाय भी बताते हैं।वे कहते हैं :

अरे/ मन/ तू रमना चाहता है
श्रमण में रम
चरम चमन में रम
सदा–सदा के लिये, परम नमन में रम
चरम में चरम सुख कहां ?
इसलिये अब
स्वप्न में भी भूलकर
नरम नरम में/नरम/नरम

इस संग्रह की कतिपय कविताएँ 'पूज्य पूजक बना', 'चुनाव', 'सत्य भीड़ में काया', माया, आदि में कवि ने लौकिक जगत की ऐसी बिंडबनाओं को प्रकाशित किया है जो समाज की विभिन्न व्यवस्थाओं को दूषित किये हैं। आचार्य विद्यासागर की इस प्रकार की कविताएँ राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक दृष्टि से अति महत्वपूर्ण बन गई हैं जैसे –

जहां तक सत्य की बात है
देश–विदेश में भारत में भी
सत्य का स्वागत है आबाल वृद्धों, प्रबुद्धों से
किन्तु/खेद इतना ही है/ कि
सत्य का मैं यह स्वागत/ बहूमत पर/आधारित है।

मुक्तक शतकः इस शतक के सृजन का सूत्रपात 1971 में हो गया था। इन मुक्तकों में कवि ने मानव जीवन की महत्ता गुरू उपदेश से प्राप्त भेद विज्ञान, आत्मा की गुणमयता, सम्यक दर्शन की महिमा, मोह कर्म की घातक शक्ति, इच्छाओं की दुखमयता और कषायों के दुष्परिणामों पर प्रकाश डाला है। कवि ने यह बताया है कि सम्यक दर्शन के अभाव में ज्ञान और चारित्र भटकाव ग्रस्त हो जाते हैं।

कवि ने यह भी बताया है कि पाप तो त्याज्य है ही लेकिन पुण्यार्थी को पुण्य करते हुये भी पुण्य के फल में आसक्ति का त्याग कर देना चाहिये। इन रचनाओं के माध्यम से कवि ने कर्मो के शमन के लिये विरक्त मूलक ज्ञान को भी मुक्ति का द्वार बताया है। वे कहते हैं कि जीव की बदलती हुई पर्याय में ध्रुवता के गुण से युक्त आत्म तत्व शाश्वत रूप में विद्यमान रहता है।

सर्वोदय शतक : यह काव्य रचना दोहा छंद में रचित मुक्तकों का संग्रह है। इसका प्रकाशन सन 1994 में हुआ था। इसमें आत्म–उत्थान से संबंधित पुरूषार्थ के विभिन्न अंगों का महत्व बताया गया है। तीर्थकर, गुरूचरण, सरस्वती, सम्यक चरित्र, संत समागम, परोपकार, सांसारिक कर्मों में अकर्तापन, आत्मा की शाश्वत सत्ता में विश्वास यह ऐसे तत्व हैं जिनके मिल जाने से आध्यात्मिक यात्रा सुचारू रूप से चलती है। कवि ने इन विषयों को आलंबन बनाकर इनके प्रति आसक्ति मूलक मनोवेग जाग्रत किये हैं। कवि विद्यासागर के अनुसार संसारी प्राणी को शाश्वत सुख निधि परमात्मा ढूंढने के लिये बाहर जाने की आवश्यकता नहीं है वह आत्म तत्व तो प्रत्येक शरीरधारी प्राणी में भी उसी तरह समाहित है जैसे तिल में तेल रहता है। अनादिकालीन मेल के कारण जीव उस शुद्ध आत्मा को नहीं देख पाता जिस तरह दूध में घी बिद्यमान रहता है लेकिन स्पष्ट दिखाई नहीं देता। दूध से घी को विशेष प्रक्रिया द्वारा अलग किया जा सकता है, तिल में विद्यमान तेल को विशेष श्रम साधना के द्वारा अलग किया जा सकता है। इसी प्रकार संसारी जीव में विद्यमान परमात्म तत्व को संयम साधना द्वारा देह से अलग किया जा सकता है। वे कहते हैं–

यथा दुग्ध में घृत तथा रहता तिल में तेल।
तन में शिव है ज्ञात हो अनादि का यह मेल।।

दया को आचार्य विद्यासागर आत्मा के अनंत दिव्य गुणों में प्रमुख गुण मानते हैं और इसीलिये वे दया के बिना धर्म की कल्पना ही नहीं कर सकते। उनके अनुसार सत्य भी धर्म का दर्जा तभी पाता है जब उसमें दया समाहित होती है।

दया रहित क्या धर्म है, दया रहित क्या सत्य।
दया रहित जीवन नहीं, जल बिन मीन असत्य।।

कवि ने इस कृति में यह भी प्रतिपादित किया है कि जीव अपने आत्म द्रव्य के अतिरिक्त स्वयम के शारीरिक जन्म मरण तक का कर्ता नहीं है, फिर औरों के कर्ता और कारण बनने का भ्रम क्यों पाले है। यह तो अति जड़ता है।

किस–किस का कर्ता बनूँ किस–किस का मैं कार्य।
किस किस किस का कारण बनूँ यह बस क्यों कर आर्य
पर का कर्ता मैं नही मैं क्यों पर का कार्य
कर्ता कारण कार्य हूँ मैं निज का अनिवार्य।

पूर्णोदय शतक : इसका प्रकाशन सन 1994 में हुआ था। इसमें 103 दोहे हैं, ये मुक्तक शैली के हैं, सर्वोदय की भांति इसमें भी कवि ने देवशास्त्र गुरू की वंदना की है। वे अपने इष्टदेव को सृष्टि का कर्ता, पालक और संहारक नहीं मानते हुये भी एक अनंत शक्ति संपन्न आत्म सत्ता मानते हैं। उनके अनुसार पूर्व में सभी परमात्मा कर्म बंधन में थे लेकिनआत्म पुरूषार्थ और निमित्त साधन जुटाकर उन्होंने अपने कर्म की मलिनता दूर की और आत्मा में विद्यमान किन्तु छुपी हुई अनंत ज्ञान, अनंत शक्ति और अनंत आनंद को प्रगट कर दिया। उनका विश्वास है कि ऐसे परमात्मा का निमित्त पाकर प्रत्येक संसारी जीवात्मा अपने पुरूषार्थ से अपने सिद्ध स्वरूप की शक्तियों को प्राप्त कर सकता है। वे कहते हैं –

पारसमणि के परम से लोह हेम बन जाये।
पारस के तो दर्श से मोह क्षम बन जाये।।

कवि के अनुसार जिस तरह मेंढक पानी में रहता है उसे नाग भी निगल नहीं पाता लेकिन पानी से बाहर निकलने पर नाग उसे निकल जाता है। इसी तरह जो जीवात्मा निज आत्म जल में डूबे रहते हैं कर्म रूपी नाग उनका कुछ नहीं बिगाड़ पाते किन्तु आत्मा से बाहर सांसारिक वस्तुओ में चित्त लगाते ही कर्म रूपी नाग उसे निगल लेते हैं। इस शतक के अनेक दोहों के माध्यम से कवि ने आत्मा को परमात्मा बनने से रोकने वाली शक्तियों पर आघात करने का निर्देश दिया है। कवि के अनुसार काम, क्रोध, मान आदि के कारण आत्म प्रदेशों में नये अचेतन पदार्थ चिपक कर कर्म रूपी मलिनता को बढ़ाते हैं। लेकिन जो जीव काम, क्रोध, मान कषायों से अलग रहते हैं, उन पर नये कर्म मैल नहीं चिपका पाते। इस कृति में अनेक दोहे ऐसे हैं जो लिख तो गये हैं आत्मा को कर्म बंधन से मुक्त करने के लिये किन्तु वे लौकिक सामाजिक व्यवस्था न्याय संगत बनाने की दृष्टि से भी उपयोगी हैं। उदाहरण के लिये :–

पेटी भर न पेट भर, खेती कर, न आखेट
लोकतंत्र में लोक का संग्रह हो भरपेट
एक साथ लो/ बैल दो/ मिलकर खाते घास
लोकतंत्र पा क्यों लड़ो, क्यों आपस में त्रास।

मूक माटी : इसका प्रकाशन 1887 में हुआ। यह एक कालजयी महाकाव्य माना गया है। इस कृति में एक ऐसे देहधारी जीव की कथा है जो शाश्वत सुख की इच्छुक है। मूक माटी ऐसे ही जीव का प्रतीक माना गया है। मूक माटी अपनी आत्मा सत्ता रूप मां से अपने दुःख को प्रगट करते हुये कहती है कि मैं अपने कारणों से और दूसरों के निमित्त से लगातारदुःख झेलती आ रही हूँ। क्या यह मेरी दुःख अवस्था समाप्त हो सकती है और क्या मैं शाश्वत सुख दशा में पहुंच सकती हूँ। इस पर मूक माटी की आत्म सत्ता रूप मां उत्तर देती है कि तुममें अनंत ज्ञान, अनंत शक्ति और आनंद की क्षमताएँ छिपी हुई हैं।

अर्थात ये अभी मूक अवस्था में है जब निजी पुरूषार्थ और परोपकारी लोगों के निमित्त साधन तुम्हें मिलेंगे तब तुम्हारी शक्तियां प्रगट हो जायेंगी और तुम वर्तमान दुःख अवस्था से शाश्वत सुख दशा में पहुंच जाओगी। तुम्हारे अंदर विराट शक्तियां उसी तरह छिपी हैं जैसे विशाल वटवृक्ष बनने की शक्तियां उसके अति लघुकाय बीज में छिपी होती हैं। जब बीज को अनुकूल स्थान में रोपा जाता है तथा उचित मात्रा में हवा, पानी, और वह घड़ा पानी से नहीं बिखरता, खाद आदि के निमित्त मिलते हैं तब वह एक दिन विराट वट वृक्ष में बदल जाता है। इसी प्रकार तुम्हारी शक्तियां भी विराट रूप धारण कर सकती हैं। मूक माटी की मां यह भी समझाती है कि तुम्हारी वर्तमान अवस्था चेतन एवं अचेतन पुदगल परमाणुओं के मेल से युक्त है। उचित पुरूषार्थ द्वारा जब कर्म परमाणु अलग हो जायेंगे तो तुम्हारा अनंत शक्ति संपन्न स्वरूप प्रगट हो जायेगा। तुम्हें सुख ढूंढने अलग कहीं नहीं जाना है बल्कि, कर्मों के मेल को अलग करना है। सुख अपने आप प्रगट हो जायेगा. क्योंकि यह तुम्हारी ही आत्मा का गुण है। मूक माटी की मां कहती है कि एक संस्कार शिक्षक गुरू कुंभकार के रूप में तुम्हें लेने आयेंगे तुम्हें बस उनकी आज्ञा में चलकर पुरूषार्थ करना है। जिस तरह मिटटी कुंभकार के सहयोग से एक पक्के घड़े में बदल जाती है जो अपनी प्यास भी बुझाता है और दूसरों की प्यास बुझाने में निमित्त बनता है।

इसी प्रकार संस्कार शिक्षक गुरू तुम्हारे स्वरूप को भी इस तरह संस्कारित कर देगा कि सांसारिक वस्तुओं का ज्ञान तुम्हारे मन में कषाय उत्पन्न करके विचलित नहीं कर पायेगा। तुम दूसरों के कल्याण में भी सहायक बनने की शक्ति धारण कर लोगे।

कवि ने मूक माटी के व्यक्तित्व विकास को सांगोपांग रूप में प्रस्तुत करने हेतु कथानक को चार भागों में विभाजित किया है। प्रथम खण्ड के माध्यम से कवि ने यह प्रतिपादित किया है कि सद्संगति का लाभ तभी होता है जब संगति करने वाला सदगुरू के गुणों को ग्रहण करने की सामर्थ्य रखे। ऊपर से दो पदार्थ भले ही एक समान दिखते हों उनका वर्ण समान हो, किन्तु उनकी चाल चलन ढंग अलग अलग है तो वह संगति हानिकारक होगी। किन्तु यदि सतसंगति में आने वाला व्यक्ति अपने दुगुर्णों का त्याग करने को तैयार हो, सदगुणी के गुणों को ग्रहण करे तो वर्ण लाभ होता है। इस खण्ड में कवि ने कठोर मान कषाय धारण करने

वालों की संगति से मोक्ष के इच्छुक व्यक्ति को अलग रहने की सलाह दी है। वे कठोर मान कषाय रखने वाले प्राणियों की भी भलाई चाहते हैं और उन पर अनुकंपा रखने की सलाह देते हैं।

द्वितीय खण्ड शब्द सो बोध नहीं :बोध सो शोध नहींइसके माध्यम से कवि ने यह समझाया है कि बोध या बाहय ज्ञान माध्यम तो है लेकिन लक्ष्य नहीं क्योंकि वह शाश्वत सुख नहीं दे सकता। बोध के माध्यम से जब आत्मा का शोध होता है तभी आत्मानुभूति के फल प्राप्त होते हैं जिनके द्वारा पूर्ण तृत्ति मिलती है। कवि ने मोक्ष का अर्थ बतलाते हुये यह स्पष्ट किया है कि आत्म प्रकृति में रमना ही मोक्ष है और आत्मा को छोडकर अन्यत्र रमना, राग द्वेष रखना, संसार बंधन अर्थात अनेक शरीरों में जनम मरण करते हुये दुःख का भार ढोना है। आचार्य विद्यासागर ने इस खण्ड में जीव में मार्दव गुण का विकास करने की विधि भी बतलाई है कवि के अनुसार जिस तरह कुंभकार माटी को कुंभ में ढालने के पूर्व उसे निर्मल जल से भिगोता है, रोंद कर मिटटी को नरम करता है उसी प्रकार मोक्ष के साधक के स्वभाव में मार्दव गुणों का विकास करना होता है। इसके लिये उसे अपने मन में प्रतिष्ठा प्राप्त क्रोध, मान, माया, लोभ और रति अरति, हास्य शोक, भय जुगुत्प्सा आदि कषाय भावों के महत्व को समाप्त करना पड़ता है। तभी उसमें धर्म चक्र पर चढ़कर संयमी जीवन रूपी कुंभ में ढलने की शक्ति आती है। इसी खण्ड में कवि ने माटी रूपी मोक्ष के इच्छुक जीव को संयमी कुंभ में ढलते हुये बताया है। कुंभकार रूपी संस्कारी विभिन्नधार्मिकउपायों के माध्यम से उसके व्यक्तित्व के दोषों को निकालता है और खुली धूप (परिस्थितियों) में रख देता है ताकि संयमी जीवन का ढीलापन समाप्त हो जाय और उसमें तप नियमों को सहन करने की शक्ति आ जाये।

कथा के तृतीय खण्ड का नाम पुण्य का पालन पाप प्रक्षालन रखा गया है। इसमें कवि ने यह बताया है कि यद्यपि पुण्य और पाप दोनों ही बंधन रूप हैं किन्तु दोनों को समान तराजू पर तौलना भी गलत है। उन्होंने यह बताया है कि पुण्य के द्वारा हम अपनी आत्मा का मैल धोते हैं किन्तु पुण्य फलों से आसक्ति का त्याग किये बिना मोक्ष की अगली सीढ़ी पर कदम नहीं रखा जा सकता। इस खण्ड में कवि ने यह भी बताया है कि तपस्वी की परीक्षा लेने के लिये जब प्रतिकूल विघ्न बाधायें आती हैं और यदि साधक संयम का आश्रय लेता है तो वे परिस्थितियां अनुकूल होकर पुण्य में बदल जाती हैं और शुभ परिणाम देने लगती हैं।

मूक माटी के चतुर्थ खण्ड में कवि ने तप के बारे में विस्तृत प्रकाश डाला है। इसमें बताया गया है कि यदि तप के पालन में दुःख का अनुभव किया जाता है तो इसका अर्थ यह है कि उसकी आत्मा के प्रति आस्था में कमी है। आत्मा के प्रति आस्था दृढ़ होने पर इच्छा निरोध रूप में तप के नियम उसे सुख देने लगते हैं। कवि ने कृति के अंत में तपस्वी की परीक्षा हेतु बड़ी बड़ी आपदाओं का आनादिखाया है। इसमें यह बताया गया है कि धर्म में और आत्मा में पूर्ण विश्वास रखने वाला व्यक्ति सभी विपरीत परिस्थितियों पर विजय प्राप्त कर लेता

है। आतंकवाद के रूप में जो सबसे बड़ा संकट तपस्या के मार्ग में खड़ा होता है, उसका हृदय परिवर्तन ही तप करने वालों की शक्ति का परिचायक है। इस तरह इस कृति के माध्यम से आचार्य विद्यासागर ने एक ऐसे जीव का व्यक्तित्व विकास दिखाया है जिसकी शक्तियां माटी की तरह अव्यक्त थी किन्तु कोमल भावनाओं को विकसित करके तथा लौकिक इच्छाओं पर विजय प्राप्त करके वह यथा शक्तिशाली रूप धारण कर लेता है, वह शाश्वत सुख के पुरूषार्थ की योग्यता धारण कर लेता है। उसमें वह शक्ति भी आ जाती है कि वह दूसरों के आत्म विकास में भी सहायता दे सकता है।

दीर्घ प्रश्न :

1. आचार्य विद्यासागर के जीवन दर्शन पर प्रकाश डालिए।
2. आचार्य विद्यासागर की काव्य कृतियों का उल्लेख कीजिए।

नोट प्रथम प्रश्न का उत्तर यूनिट 3 तथा द्वितीय प्रश्न का उत्तर यूनिट 3 ब में देखें।

लघु उत्तरीय प्रश्न–

1. आचार्य विद्यासागर द्वारा निर्दिष्ट रत्नत्रय साधना का क्या आशय है ? स्पष्ट कीजिए।

उत्तरः रत्नत्रय का अर्थ है सम्यक दर्शन, सम्यक ज्ञान और सम्यक चरित्र की साधना। इन तीनों तत्वों से मिली हुई साधना को रत्नत्रय साधना कहा जाता है। ये तीनों तत्व जीव के पुरूषार्थ में उसी प्रकार अमूल्य हैं जिस तरह विद्यासागर जी के सांसारिक जीवों के लिए रत्न अमूल्य होते हैं।

2. विद्यासागर जी के महिता सशक्तिकरण संबंधी विचार व्यक्त कीजिए।

उत्तरः आचार्य विद्यासागर ने धर्म के क्षेत्र में फैली इन धारणाओं पर कुठाराघात कियाहै कि धर्म साधना में नारी बाधक और पापकर्म की ओर ले जाती है। उनकी दृष्टि में नारी करूणा और वात्सल्य की पुंज है। वह कालवासना को नियंत्रित करती है, माता के रूप में नारी पुरूष की प्रथम गुरू है तथा पुरूष के जीवन में मंगल महोत्सव लाती है। उनकी दृष्टि में लोग अज्ञानीहै जो नारी को हेय, अपवित्र और अबला मानते हैं। वस्तुतः नारी पूज्य और आदरणीया है।

3. आचार्य विद्यासागर कृत आचार्य ज्ञान सागर स्तुति ग्रन्थ का परिचय दीजिए।

उत्तरः इस ग्रन्थ में 20 पद्योवाले 16 मात्रिक छन्दोंका उपयोग कियागया है। इसमें कवि ने गुरू ज्ञान सागर के उपकार का वर्णन किया है जिन्होंने उन्हें सन्मार्ग का दर्शन कराया। गुरू ने ही उनके गले में सम्यक दर्शन, सम्यक ज्ञान और सम्पक चरित्र रूप एकता की माला पहनायी। इसमें गुरू की अनुपम कृपा का उल्लेख है जिन्होंने आत्मज्ञान और जनकल्याण के लिए प्रेरित किया है।

4. 'मुक्तक शतक' ग्रन्थ का परिचय दीजिए।

उत्तरः यह ग्रन्थ आचार्य विद्यासागर द्वारा रचित है। इसका सूत्रपात सन् 1971 में हुआ। इसके मुक्तकों में कवि ने मानव जीवन की महत्ता, भेद विज्ञान, आत्मा की गुणवत्ता, सम्यक दर्शन की महिमा, मोह कर्म की घातक शक्ति, इच्छाओं की दुखमयता और कषायों के दुष्परिणामों पर प्रकाश डाला है। कवि ने बताया है कि सम्यक दर्शन के अभाव में ज्ञान और चरित्र भटकाव ग्रस्त हो जाते हैं। कवि ने कर्मों के शमन केलिए विरक्त मूलक ज्ञान को भी मुक्ति का द्वारा बताया है।

वस्तुनिष्ठ –

1. आचार्य विद्यासागर ने किस प्रकार के प्रशिक्षक की शरण में जाने पर बल दिया है ?

(क) लोभी (ख) लालची **(ग) निर्लोभी योग्य** (घ) स्वार्थी अयोग्य

2. विद्यासागर ने अपने ग्रन्थों में मुक्ति के कितने उपायों को आत्मसात करने का निर्देश दिया है ?

(क) चार **(ख) पाँच** (ग) तीन (घ) छह

3. शुद्ध निर्दोष, अहिंसक आहार सामग्री विधि पूर्वक ग्रहण करना कौन सी समिति है ?

(क) ईया **(ख) एषणा** (ग) प्रतिष्ठापन (घ) भाषा समिति

4. आचार्य शिवसागर की स्तुति किस छन्द में लिखी गयी रचना है ?

(क) द्रुत विलम्बित (ख) मालिनी **(ग) मन्दाक्रान्ता** (घ) सोरठा

5. 'तोता क्यों रोता' कृति का प्रकाशन कब हुआ ?

(क) सन् 1900 (ख) सन् 1950 (ग) सन् 1954 **(घ) सन् 1984**

———————

यूनिट– 4

मूकमाटी का महाकाव्यत्व

उददेश्य, कथानक, पात्र–योजना एवं चरित्र चित्रण, संवाद योजना, परिस्थितिचित्रण, अभिव्यंजना–सौंदर्य का विश्लेषण

उददेश्य : आचार्य विदयासागर की प्रबंध कृति मूक माटी एक वृहतकाय कथानक पर आधारित है। इसमें लोक–कल्याण के आदर्श को अत्यन्त प्रौढ़ चिंतन के साथ प्रस्तुत किया गया है। उदात्त भाषा और शिल्प के माध्यम से रस योजना की सफलता ने भी इसे आधुनिक युग की महत्वपूर्ण काव्यकृति का गौरव दिलवाया है। प्रसिद्ध समीक्षक डॉ. परमेश्वर दत्त शर्मा के मत में मूक माटी एक महाकाव्य ही नहीं अपितु धर्म–दर्शन, अध्यात्म तथा चेतना का अभिनव शास्त्र है। यह आधुनिक युग की मनु–स्मृति और गीता भी है। यदि रामायण, महाभारत, पदमचरित तथा रामचरित मानस के रचयिता वाल्मीकि, व्यास, स्वयंभू और तुलसी संत कवि हैं तो मूक माटी के रचयिता आचार्य विद्यासागर भी काव्य प्रतिभा संपन्न वीतरागी संत कवि हैं। सूफी कवि मलिक मुहम्मद जायसी कृत पदमावत में भी आध्यात्मिक रूपक है, महाकवि जयशंकर प्रसाद की कामायनी मनोवैज्ञानिक रूपक है तो मूकमाटी वृहतकाय धार्मिक रूपक है। वस्तुतः यह हिंदी जगत का गौरव ग्रंथ है। महाकाव्य संबंधी भारतीय एवं पाश्चात्य लक्षणों का समन्वय कर हम निम्न बिंदुओं के आधार पर इसकी विवेचना प्रस्तुत कर सकते हैं।

उदात्त कथानक : आत्म परकल्याणकारी प्रेरणा देने वाली घटनाओं के सुसंगठित प्रस्तुतीकरण को उदात्त कथानक कहा जाता है। आचार्य विदयासागर ने प्रबंध काव्य मूकमाटी में दुःख की स्थाई निवृत्ति पाने की इच्छुक एक जीवात्मा के उन प्रयत्नों का वर्णन कियाहै जिसमें वह अपनी छिपी हुई आत्म शक्तियों को स्वयं के पुरूषार्थ और पर के निमित्त साधनों द्वारा प्रगट करने में सफल होती है। मूकमाटी को कवि ने मोक्षार्थी जीव का प्रतीक बताया है। इसमें मूक का अर्थ अव्यक्त शक्ति से लिया गया है और माटी का अर्थ ऐसे बद्ध पर्याय के जीव से है जो स्वयं दुःखी है और दूसरे के निमित्त से भी उसे दुःख मिलते रहते हैं। कथा को कवि ने पांच खण्डों में विभाजित किया है। प्रथम सर्ग के आरंभ में सरिता तट की माटी संसार के दुःखों से घबराकर अपनी आत्म सत्ता रूप मां के समक्ष वेदना प्रगट करती है और पूछती है कि अनंत काल से वह जो दुःख भोग रही है इसकी श्रृंखला का अंत कैसे होगा ? उत्तर में मां कहती है कि तुममें अपने दुःख का अंत करने और अनंत सुख को प्रगट करने की शक्तियां उसी प्रकार से छुपी हैं जैंसे वट के बीज में छिपी होती हैं। वट काबीज देखने में खसखस के दाने जैसा छोटा होता है लेकिन समय पर उसे खाद, हवा, जल आदि निमित्त साधन मिल जाते हैं तो वह भी स्वयं की शक्तियों को प्रगट कर विशाल वट–वृक्ष बन जाता है। तुमने जो अपने को

पतित अनुभव किया है लघुतम जाना है यह अनुभूति ही तुम्हारे आत्म उत्थान की सूचना देती है। लघुता की अनुभूति करने वाले जीव का ही उत्थान संभव हो पाता है। लेकिन इसके लिये तुम्हें अपनी इच्छा को साधना का रूप देना होगा। साधना मार्ग में प्रारंभिक कठिनाइयां आती हैं लेकिन इससे न घबराने वाला ही सफलता की मंजिल पर पहुंचता है।

मूक माटी की मां यह भी समझा देती है कि कर्मबद्ध संसारी जीव पुद्गल परमाणु और आत्मा के सम्मिलन से एक तीसरे प्रकार का यौगिक पदार्थ बन गया है। यही कमबद्धता जीव की दुःखावस्था के लिये जिम्मेदार है। आत्मा का कर्म परमाणुओं से संश्लेषण होना और स्व के पुरूषार्थ तथा पर के निमित्त से उनका विलग होना आत्मा की ही ममता, ममता परिणति कहलाती हैं। मूकमाटी की मां यह भी बतलाती है कि अगली प्रभात वेला में कुंभकार (संस्कार गुरू) आयेंगे तुम्हें बस उनकी आज्ञाओं का पालन करना है। उनके शिल्प के माध्यम से ही तुममें आत्म शक्तियां विकसित होंगी। दूसरे दिन संस्कार गुरू आते हैं और माटी को अपने साथ बोरी में भरकर एक निस्वार्थ सेवाभावी गधे की पीठ पर लादकर आश्रम ले जाते हैं। कवि ने गधे को एक ऐसे सहयोगी व्यक्ति का प्रतीक बताया है जो दूसरों के कल्याण में सहायक बनने तक सुख संतोष का अनुभव करता है। मार्ग में माटी को गधे की पीठ के घाव तथा वजन से होने वाली पीड़ा का अनुमान होता है। माटी को दया आती है और वह मरहम बनकर गधे की पीठ पर लगाकर उसकी पीड़ा को दूर करने का प्रयत्न करती है। माटी को पश्चाताप हो रहा था कि मेरे निमित्त से गधे की पीठ छिल रही है। उधर गधे को भी दया आ रही थी कि यह माटी चलने में लाचार है इस तरह दोनों ही दयाभाव में खो संतोष और प्रसन्नता का मिला–जुला अनुभव कर रहे थे। उपाश्रम में पहुंचने पर कुंभकार ने बुद्धि रूपी चलनी से कठोर प्रकृति के साथी कंकरों को माटी की संगति से अलग किया। इस पर कंकर रूपी साथियों को क्रोध उत्पन्न हुआ।

उन्होंने शिल्पकार (गुरू) से प्रश्न किया कि हमारा माटीके साथ दीर्घ कालीन संबंध है, हमें माटी से अलग क्यों किया जा रहा है। इस पर शिल्पकार समझाता है कि हमें माटी को मंगल कलश में बदलना है। इस शिल्प में कठोर प्रकृति रखने वाले लोगों का साथ बाधक बनेगा। अतः तुम्हें अलग किया जा रहा है। कंकर क्रोधित हो जाते हैं। इस पर माटी उन्हें समझाती है कि हम सभी को अपनी लघुसत्ता की विवेचना और आत्मा में छुपी हुई शक्तियों की खोज करना है, इसके लिये कसायों को मंद से मंदतर करते चले जाना है। कोमल स्वभाव का बनने पर ही हममें वह योग्यतायें आ पायेंगी। जिस तरह जल में तैरता हुआ हिमखण्ड स्वयं कठोर होता है और इस कारण वह दूसरों को भी डुबोता है उसी प्रकार अपने व्यक्तित्व में कठोरता रखने वाले लोग स्वयं भी डूबते हैं तथा अपने संगी साथियों को डुबोने में निमित्त बनते हैं। कंकर रूप कठोर साथी कुंभकार से क्षमा मांगते हुये अपना आत्म उत्थान करने के

लिये मार्ग दर्शन मांगते हैं। इस पर माटी उन्हें सलाह देती है संयम के नियमों का पालन करने से हमारी प्रवृत्तियां कोमलता धारण करती हैं।

कंकर संतुष्ट होकर शिल्पी के निर्णय को मान लेता है। शिल्पकार गुरू माटी को ऐसे व्यक्तित्व में ढालना चाहता है जो अपना आत्म कल्याण कर सके और दूसरों के आत्म कल्याण में भी सहायक बन सके। इसलिये वह सम्यक ज्ञान के जल से भिगोकर माटी के स्वभाव को नरम करना चाहता है। वह उपाश्रम के जल स्त्रोत से शुद्ध ज्ञान जल भरने को तत्पर है, उसका ध्यान साधन रूप चर्या की रस्सी पर जाता है लेकिन वह पाता है कि उसकी चर्या में असंयम की गांठ लगी है, इस संयम के कारण अहिंसा धर्म का पालन नहीं हो पायेगा और बिना अहिंसा के शुद्ध ज्ञान जल नहीं ला पायेगा। अतः कुंभकार अपनी दिनचर्या से असंयम की ग्रंथि खोलता है वह ज्ञान जल अहिंसा की बाल्टी में भर रहा था कि अचानक एक मछली उसकी बाल्टीमें आ जाती है। वह भी आत्म कल्याण चाहती है। यहां मछली एक ऐसे जीव का प्रतीक है जो अति उत्साह में मोक्ष मार्ग पर चलना चाहती है लेकिन उस वातावरण में वह जीवित भी नहीं रह सकती जब जल छानने पर शिल्पी और माटी उस मछली रूप अति उत्साही किन्तु अशक्त प्राणी को देखते हैं तो वे उसे वापस जल में छुड़वा देते हैं। कवि ने कुंएँ से बिदाई लेते समय मछली और अन्य जल जीवों की वार्ता के माध्यम से संसार में फैली दानवी प्रवृत्तियों के कार्य कारण का भी वर्णन विस्तार से किया है।

कलियुग के बारे में पूछे जाने पर मोक्षार्थी माटी समझाती है कि काल या समय को लोग उन्नति अवनति का कारण मानते हैं किन्तु वास्तव में समय एक तटस्थ द्रव्य है जो उपस्थित तो रहता है किन्तु किसी का कुछ भी अच्छा या बुरा नहीं करता। जब समय में बुरी प्रवृत्तियाँ फैलती हैं तब उसे लोग बुरा समय या कलियुग कहने लगते हैं। जब समाज में अच्छी प्रवृत्तियाँ लक्षित होती हैं तब उपस्थित समय को लोग सतयुग कहने लगतें हैं, लेकिन वस्तुस्थिति यह है कि समय हमेशा तटस्थ ही रहता है। मछली जब माटी से विदा लेते समय समाधि का नियम मांगती है तो माटी समझाती है कि काया को मिटाना समाधि नहीं है बल्कि मिटती हुई काया को राग द्वेष रहित होकर देखना समाधि है यदि राग, द्वेष रहित नहीं हुये तो ऐसा समाधिमरण त्रुटिपूर्ण होगा और इसके परिणाम में हानि ही हाथ लगेगी। माटी मछली रूपी बहिर्रात्मा को सलाह देती है कि वह अपने सहचर जीवों के साथ निष्छल व्यवहार करते हुये अपनी आयु पूर्ण करें।

कथानक खण्ड 2 को कवि ने शब्द सो बोध नहीं बोध सो शोध नहीं, शीर्षक दिया है। इस खण्ड का आरंभ कुंभकार द्वारा माटी में निर्मल जल मिलाकर उसे नर्म करने की क्रिया से आरंभ होता है।

इसका प्रतीकात्मक अर्थ यह है कि गुरू अपने शिष्य को सम्यक ज्ञान से युक्त करके उसके स्वभाव में कोमल वृत्तियां लाना चाहता है। ज्यों–ज्यों माटी नरम होती जाती है उसकी ज्ञान–धारण की क्षमता बढ़ती जाती है और उसमें अनुकंपा गुण (दयाभाव) बढ़ जाता है। इसी कारण शीतकाल की ठंड से बचने के लिये वह अपने गुरू को कंबल धारण करनेका अनुरोध करती है किंतु गुरू समझाते हैं कि अपने स्वभाव में कोमलता विकसित करने केकारण मुझे कंबल की आवश्यकता नहीं है, खादी का सूती वस्त्र ही पर्याप्त है।

कुंभकार माटी को अधिक ज्ञान रूपी जल से युक्त करने के लिये और अधिक उसके स्वभाव को नरम करता है। वह माटी के स्वभाव में क्रोध, मान, माया, लोभ को मंद से मंदतम करना चाहता है। इसके लिये वह कठोर प्रविृत्तियों को रोंदने की प्रक्रिया करता है। वह इसके लिये तैयारी कर रहा था किंतु कांटा उससे बदला लेने की भावना से अपनी मनः स्थिति बताता है यहाँ कांटा ऐसे अज्ञानी जीव का प्रतीक है जो कुंभकार की भूल से क्षत विक्षत हो गया था। वह सोचता है कि जब कुंभकार माटी को रोंदने की क्रिया करेगा तो मैं उसके पांव में गड़ कर अपना बदला लूंगा। माटी उसके दुराशय को समझ जाती है और बाली के प्रसंग की याद दिलाते हुये उसे समझाती है कि इसका परिणाम स्वयं के लिये भी बुरा होता है। वह कहता है कि कुंभकार को अपनी गलती की क्षमा मुझसे मांगनी चाहिये।

माटी और काँटे की वार्ता को दूर से सुनकर कुंभकार को भनक लग जाती है और स्वयं ही काँटे से क्षमा मांगता हुआ कहता है मैं किसी को कष्ट नहीं देना चाहता, सभी से मैत्री भावना बनाये रखना चाहता हूँ, इसलिये मैं क्षमाप्रार्थी हूँ। कुंभकार की क्षमावाणी को सुनकर काँटे का प्रतिशोध भाव समाप्त हो जाता है और उसमें आत्म उत्थान के भाव जाग्रत हो जाते हैं। वह भी संयम लेने का इच्छुक हो जाता है। उसकी अंतः प्रवृत्तियों के परिवर्तन को समझकर लेखनी उसे शब्द ज्ञान, बोध तथा शोध का अंतर स्पष्ट करती है। काँटे की समझ में आ जाता है कि शब्द ज्ञान और बोध में परस्पर गहरा संबंध है, शब्द ज्ञान के बिना बोध विकसित नहीं होता। किन्तु बोध या संयम धर्म के माध्यम से ही शोध के फूल लग पाते हैं, अतः सभी का विकास क्रम–क्रम से होना चाहिये। इस सदुपदेश को सुनकर काँटे की कठोर प्रवृत्तियां गलत हो जाती हैं. वह अपनी भूल का अनुभव करता है, कुंभकार काँटे को समझाता है कि अपनी आत्मा को छोड़कर अन्य पदार्थों में इष्ट–अनिष्ट बुद्धि लाना अज्ञान है, पाप है तथा पर पदार्थों को छोड़कर अपनी आत्मा में रमण करना मोक्ष धाम तक पहुँचना है। शिल्पी शुद्ध सम्यक ज्ञान जल से युक्त माटी को और अधिक नरम बनाने के लिये तत्पर होता है लेकिन उसके हाथ–पाँव कार्य नहीं करते। वह भीतर से महसूस करता है कि अधिक कुचलने से माटी को तकलीफ होगी। इधर माटी उतावली होती है कि कब कुँभ उसके गुरू उसकी प्रवृत्तियों को नरम से नरम कर दे और वह मंगल घट में परिवर्तित हो जाये। अर्थात

ऐसा व्यक्तित्व धारण कर ले जो संसार के ज्ञान रूपी जल से न तो स्वयं गल पाये और न ही दूसरे उससे दुःख प्राप्त करें। वह दूसरों की प्यास बुझाने का निमित्त बनना चाहती है। रोंदन क्रिया के उपरांत माटी के व्यक्तित्व में मृदुता मुखरित हो जाती है इस प्रयास में बारी–बारी से क्रमशः वीर रस, हास्य रस, रौद्र रस, भयानक रस, अद्‌भुत रस, श्रृंगार रस, वीभत्स रस, करूण रस एवं वात्सल्य रस अपने–अपने महत्व को बढ़–चढ़ा कर बतलाते हुये बाहर निकलते हैं। शिल्पी इन लौकिक रसों की कमियां बतलाता हुआ उनका तिरस्कार कर देता है, तब कहीं शांत रस प्रगट होता है। अब वह मिटटी को मंगल घट में बदलने के लिये कुलाल चक्र पर रखता है जैसे ही वह कुलाल चक्र (नियम समूह) पर रखी जाती है और घुमाई जाती है, कष्ट का अनुभव करती है इस पर शिल्पी समझाता है कि नूतन चर्या रूपी चक्र पर उसे जिस कष्ट का अनुभव हो रहा है उसमें दृष्टि का ही अपराध है। यदि आत्मा रूपी केंद्र पर दृष्टि रखी जाये तो कष्ट का अनुभव नहीं होगा।

आत्मा रूपी केंद्र से बाहर दृष्टि रखने पर ही चक्कर या कष्ट का अनुभव होता है। नरम मिट्‌टी अपने गुरू कुंभकार की आज्ञा का पालन करती है और इस तरह वह मिटटी कच्चे कुंभ में बदल जाती है। दो–तीन दिन के बाद जैसे ही मिटटी की कुंभाकृति (संयमी व्यक्तित्व) का ढीलापन कम होता है वह स्नेह से एक दंडिका (प्रायश्चित नियमावली) के द्वारा उसके प्राथमिक दोषों को दूर करता है। इसके बाद वह कुंभ के व्यक्तित्व पर तत्व उदघाटक संख्याओं के चित्र और स्मरणीय चिन्ह अंकित करता है। वह और भी लिखता है तत्पश्चात मिथ्यात्व के जल को सुखाने हेतु खुले वातावरण में रख देता है। तप के प्राथमिक नियमों की साधना करके उसका अज्ञान रूपी जल सूख जाये। कुंभकार गुरू वैराग्य की जननी बारह भावनाओं का चिंतन करता है।

कुंभ में अज्ञान जल के सुखाब की स्थिति होती है। तभी माटी की संयमी आकृति को नष्ट करने के लिये तीव्र कषायों के बादल (तीव्र क्रोध, मान, माया, लोभ के भाव) घिर जाते हैं। ये माटी के संयमी जीवन की आकृति को गलाना चाहते हैं किन्तु तभी अज्ञान समुद्र माटी (मोक्षार्थी जीव) की आत्मसत्ता में पड़े अशुभ कर्म प्रवृत्तियों से निर्मित लेश्याओं की बदली को आदेश देते हैं कि तप साधना करती संयमी आकृति को समाप्त कर दो। ये अशुभ बदलियाँ सम्यकज्ञान के प्रभाव को नष्ट करने के लिये संलग्न होती हैं। सम्यक ज्ञान रूपी सूर्य के प्रभाव से तीन अशुभ लेश्यायें शुभ लेश्याओं के कारण पुण्य फल के रूप में मुक्ताओं की वर्षा कुँभकार के आश्रम में होती है। मोतियों की वर्षा का समाचार सुनकर राज अपने सेवकों के साथ कुंभकार के प्रांगण में आजाता है औरमोतियों को भरकर ले जाना चाहता है। किन्तु राजा के सेवक जैसे ही मुक्ताओं को भरने के लिये तत्पर होते हैं, उन्हें संकेत मिलता है कि दूसरे के पुण्य फल पर अधिकार करना उचित नहीं। राजाओं के सेवक इस संकेत की उपेक्षा करके

मुक्ताओं को भरने का प्रयास करते हैं लेकिन इस प्रयास में वे सभी मूर्छित होकर गिर जाते हैं। तभी कुंभकार आताहै और इस दुर्घटना को देखकर वह दुःख में डूब जाताहै। वह प्रभु से प्रार्थना करके मूर्छा को समाप्त करता है। ऊँकार मंत्र के उच्चारण के साथ वह मंत्रित जल का सिंचिंत जल राज मंडली पर करके उनकी मूर्छा दूर करता है। वह राजा से मुक्ता राशि राजकोष में वह मुक्ता राशी का दान करता है। इस अवसर पर कुंभ राजा से धनलोभ में पड़ने के दंड की चर्चा करता है और याद दिलाता है है कि मर्यादा का उल्लंघन करने पर राम–लक्ष्मण–सीता आदि महापुरूष भी परिणाम से नहीं बच पाये थे। कुंभ की वाणी में तीखापन देखकर उसका गुरू (कुंभकार) समझाता है कि आत्मवेदी को मर्मभेदी नहीं बनना चाहिये। हित की बातों को भी प्रिय वचनावली द्वारा कहना चाहिये। कोई अनुनय–विनय समेत हित की बात पूछता है तो एकांतवादी कथन का त्याग कर सर्वांगीण सत्य का प्रतिपादन हित मित प्रिय वचनों में करना चाहिये कि दुःख मिट सकें।

मुक्ता वर्षा का समाचार पाकर सभी जगह कुंभकार ओर आत्मधर्म की कीर्ति बढ़ जाती है किंतु सत्ता में पड़े मिथ्यात्व जल में फिर उफान आ जाता है और वह कुंभ की संयमी आकृति को मिटाने के लिये तत्पर हो जाता है। सम्यक ज्ञान का सूर्य दूर संकेत के द्वारा अज्ञान में छिपे ज्ञान की प्रखरता को सूचित करता है। ज्ञान का तेज अज्ञान के समुद्र को चुनौती देता है अब अज्ञान समुद्र तीव्र कषायों से निर्मित अशुभ लेश्यायों के बादलों को आदेश करता है कि कुंभ तथा सभी संयमियों को समाप्त कर दो। मोह के वशीभूत अशुभ लेश्याओं के बादल सबसे पहले अपने कार्य में बाधा बने, सम्यक ज्ञान के सूर्य से जा भिड़ते हैं। सम्यक ज्ञान का सूर्य अशुभ लेश्याओं के बादलों को पराजित करते हुये जैसे ही तत्पर होता है तभी जड़ पदार्थों में प्रयोजन रखने वाला मिथ्यात्व रूपी समुद्र तीव्र लोभ रूपी राहू को मदद के लिये याद करता है। लोभ और मिथ्यात्व के समुद्र की दो शक्तियां मिलकर सम्यक ज्ञान के सूर्य को समाप्त करना चाहती हैं। परिणाम स्वरूप कुछ समय के लिये सम्यक ज्ञान रूपी सूर्य को ग्रहण लग जाता है।

सम्यकत्व सूर्य के ग्रहण को छुड़ाने के लिये संयम को गले लगाने वाले आत्म परमाणु सक्रिय होते हैं, वे पाप से घनीभूत लेश्याओं के बादलों पर प्रहार करतेहैं। परिणाम स्वरूप अशुभ लेश्याओं के बादल भाग खड़े होते हैं। इसी समय पुण्य प्रकृति का इंद्र भी सक्रिय होता है। वह पुण्य के शक्तिशाली बाणोंसे पाप प्रवृत्तियों को शक्तिहीन करता है। पापों के मेघ पुण्यों के वज्राघातसे आहत होकर चीख पड़ते हैं मिथ्यात्व का समुद्र पलायन करके लेश्याओं के बादलों को आदेश देता है कि तुम भी तीव्र कषाओं के द्वारा पुण्य पर आक्रमण कर दो। लेश्याओं के बादल तीव्र पापों का उत्पादन कर पुण्य कणों पर आक्रमण करते हैं। इस प्रकार पाप और पुण्य कणों का संघर्ष तीव्र हो उठता है। संयमी कुंभ साक्षी भाव से इस संघर्ष को

देखते हैं। पाप का कोई भी ओला कुंभ की संयमी आकृति को नष्ट नहीं कर पाता। कुंभकार कुंभ की आस्था को देखकर कहता है कि अभी तुम्हें तप की आग का सामना करना है। अर्थात अपनी इच्छाओं पर पूर्ण विजय प्राप्त करना है।

कथा के चतुर्थ खण्ड को कवि ने अग्नि की परीक्षा चांदी सी राख नाम दिया है। संयम धर्म में दीक्षित माटी के कच्चे कुंभ को तप रूपी आवा में प्रविष्ट कराने की तैयारी से कथा आगे बढ़ती है। कुंभकार सबसे पहले तप साधना की उस नियमावली का स्वरूप परीक्षण कर रहा है, वह सोचता है कि कहीं तप साधना के कड़े नियम निर्बल कुंभ को कष्ट न पहुंचाये। इस पर तप की अग्नि स्वयं कहती है कि तप अभ्यास के बिना अर्थात इच्छाओं को जीते बिना कर्मों से मुक्ति आज तक किसी को न मिली है न मिलेगी। किन्तु विकास करने के लिये पात्र के अनुकूल तप साधना का क्रमिक रूप अपनाना चाहिये। इस पर कुंभ कहता हैकि मेरे व्यक्तित्व में उपस्थित दोषों को जलाने के लिये तप नियम की अग्नि आवश्यक है। कुंभ के आशय को समझकर कुंभकार तप नियमों के अवा में कुंभ को प्रविष्ट करा देता है। कुंभकार को स्वप्न दिखाई देता है कि तप रूपी अवा से कुंभ के घबराने की आर्त ध्वनि आ रही है। वह कुंभ को बचाने के लिये पानी लेकर दौड़ता है उसकी नींद खुल जाती है और वह पाता है कि कुंभ ने तप की परीक्षा में सफलता प्राप्त कर ली है। तप नियमों की अग्नि ने कुंभ के सारे दोष जला दिये हैं कुंभकार रूपी गुरू की खुशी काठिकाना नहीं रहता। दो–तीन दिन बाद परिपक्व कुंभ (मोक्षार्थी) के मन में ऐसे साधु को आहार दान के भाव जाग्रत होते हैं। जो साधु लौकिक कामनाओं से रहित हो, मान–अपमान से दूर हो, मोक्ष की कठिन साधना करता हो, बिना वाहन के पदयात्रा करता हो और हाथ की हथेली को ही पात्र बनाकर भोजन करता हो। इसी समय नगर के एक श्रमण सेठ के मन में भी परिग्रह ग्रंथि से मुक्त साधु को आहार देने के भाव आते ही वह अपने सेवक को कुंभ लाने के लिये बाजार भेजता है। सेवक कुंभ की योग्यता की परीक्षा करता है और परीक्षण उपरांत यह पाता है कि कुंभ के व्यक्तित्व से वैराग्य का संगीत निकल रहा है। कुंभ (संयमी साधक) की सहायता से श्रावक सेठ को आहार दान में सफलता मिलती है। परिणाम स्वरूप वह कुंभ को घर में मान–सम्मान से रख लेता है कुछ समय बाद श्रावक सेठ बीमार हो जाता है, कुंभ की ही सलाह पर चिकित्त्सक दल मिट्टी की चिकित्सा पद्धति से श्रावक सेठ को स्वास्थ्य लाभ पहुंचा देते हैं। इस पर कुंभ की प्रतिष्ठा और भी बढ़ जाती है। इस पर सेठ परिवार के लोभी लालची पात्र स्वयं के नेतृत्व में श्रावक सेठ और कुंभ के प्रति साजिश रचते हैं।

वे आतंकवाद को निमंत्रित करते हैं ताकि बेगुनाह कुंभ और श्रावक सेठ समाप्त कर दिया जाये। हिंसा से बचने के लिये श्रावक सेठ और कुंभ आत्मरक्षा हेतु जंगल की ओर निकल जाते हैं। यद्यपि वे वीर थे किंतु पाप और हिंसा से डरते थे उन्हें आशंका थी कि वस्ती के सभी लोग युद्ध में भाग लेंगे, उसके कारण बड़ी हिंसा और खून–खराबा होगा। जंगल में जाने पर वंशमुक्ता हाथियों का दल तथा सर्पों का दल कुंभ एवं श्रावक परिवार की रक्षा करते हैं और आतंकवाद के विरूद्ध रक्षात्मक युद्ध लडते हैं अर्थात कुंभ और श्रावक सेठ परिवार की रक्षा तो करते हैं लेकिन आतंकी दल में से किसी की हिंसा नहीं करते।

आतंकी दल को जब अपने क्रिया कलापों में सफलता नहीं मिलती और वे अपने को संकट में घिरा पाते हैं तो मंत्र शक्ति के द्वारा नदी में बाढ़ की स्थिति पैदा कर देते हैं। एक रस्सी के सहारे श्रावक सेठ परिवार कुंभ से बंधकर नदी में कूद जाता है। कुछ समय तो वह संकट से घिरे रहते हैं किन्तु नदी से प्रार्थना करने पर नदी की प्रकृति में परिवर्तन आ जाता है। नाव में बैठा आतंकवादी दल बार–बार श्रावक सेठ और कुंभ पर आक्रमण करता है तभी नदी की प्रकृति में परिवर्तन आता है और वह आतंकी दल को डुबोने केलिये भंवर में बदल जाती है।

आतंकी दल घबराकर कुंभ के सामने आत्म सर्मपण कर देता है और क्षमा याचना करता है। इस प्रकार पश्चाताप करने वाले आतंकी दल को परिवार के सदस्य अपनी शरण में लेते हैं और सभी लोग एक किनारे पर लग जाते हैं कटि की रस्सी खोलकर रस्सी कुंभ तथा श्रावक सेठ परिवार से कष्ट के लिये क्षमा मांगती है। किंतु श्रावक सेठ और कुंभ उससे कहते हैं कि हे रस्सी तुमने हमें नदी पार करने में सहायता की इसलिये निमित्त साधन की उपयोगिता हमारी समझ में दृढ़ हो गई है। सभी लोग नदी तट पर अपने को उस स्थान पर पाते हैं, जहां कुंभकार प्रथम बार मिटटी लेने आये थे।

वहां पर समीप में एक निग्रंथ साधु भी बैठे थे सभी ने उनको नमन किया। आतंकी दल साधु से शाश्वत सुखलाभ के बारे में पूछते हैं। वे कहते हैं कि आपने शाश्वत सुख पा लिया ? तभी उसको हम प्रमाणित मानेंगे इस पर श्रमण साधु उत्तर देते हैं कि ऐसा होना असंभव है क्योंकि बंधन रूप तन, मन, वचन का आमूल मिट जाना ही शाश्वत सुख दशा होता है और ऐसी दशा प्राप्त करने के बाद कोई भी इस संसार में नहीं रहता। अतः मोक्ष संबंधी प्रत्यक्ष अनुभव बताने का अवसर ही नहीं रहता। ऐसा कहकर श्रमण साधु महामौन में लीन हो जाते हैं।

इस तरह हम देखते हैं कि मूक माटी प्रबंध काव्य में कवि ने एक ऐसे जीव की जीवन विकास की साधना को बताया है जो अपने और निमित्त साधनों की सहायता से ऐसा संयमी व्यक्तित्व प्राप्त करता है जिसका मन बाहय पदार्थों के ज्ञान से अस्थिर नहीं होता अर्थात बाहरी पदार्थ से उसके मन में क्रोध, मान, माया, लोभ के भाव नहीं आते। उसका मन ज्ञान को स्थिर करने की शक्ति से संपन्न हो जाता है।

महती उददेश्य : इस प्रबंध कृति से व्यंजित होने वाले काव्य प्रयोजनों को दो वर्गों में विभाजित किया जाता है प्रथम आध्यात्मिक लाभ द्वितीय लौकिक समस्याओं से संबंधित कार्य कारण श्रृंखला का ज्ञान तथा समाधानों का परिचय। इस कृति में आत्म कल्याण संबंधी निम्न तत्वों पर प्रकाश डाला गया है।

आत्मा की शक्तियां शाश्वत हैं – मूक माटी में स्थल–स्थल पर यह प्रतिपादित किया गया है कि जीव की बद्ध अवस्था में भी उसके अनंत दिव्य गुण भले ही छुप गये हों लेकिन वे नष्ट

नहीं होते। जिस तरह विशाल वट वृक्ष की अनंत शक्तियां उसके लघु काय की बीज में छिपी होती हैं उसी प्रकार कर्मबद्ध जीव में भी आत्मा की दिव्य शक्तियां छिपी होती हैं जो निजी पुरूषार्थ और दूसरों की सहायता के द्वारा विकसित हो जाती हैं।

जीव की वर्तमान देहधारी अवस्था चेतन और अचेतन का यौगिक रूप है – आचार्य विदयासागर ने मूक माटी के माध्यम से यह समझाया है कि सुख–दुःख झेलता देहधारी जीव आत्म द्रव्य एवं पुदगल कर्म परमाणुओं के संयुक्त होने का परिणाम है। वे कहते हैं – प्रकृति और पुरूष के सम्मिलन से विकृत और कलुष के संकुलन से भीतर ही भीतर सूक्ष्मतम तीसरी वस्तु की जो रचना होती है, दूर दर्शक यंत्र से दृष्ट नहीं होती। वह समीचीन दूर दृष्टि में उतरकर आती है। यह कार्मिक व्यथन है, कर्मों का संश्लेषण होना आत्मा से फिर उनका स्व पर कारणवश विश्लेषण होना यह दोनों कार्य आत्मा की ही ममता समता परिणति पर आधारित है।

कर्म–मुक्ति की साधना अपनाने की क्षमता प्राप्ति का दिग्दर्शन –आचार्य विदयासागर ने मूक माटी में यह प्रतिपादित किया है कि चेतन आत्मा से बद्ध कर्म विलग करने के उपायों को क्रमबद्ध ढंग से अपनाना चाहिये। कवि ने माटी के परिपक्व कुंभ बनाने के रूपक का आश्रय इसीलिये लिया है जिस तरह माटी अनंत काल से अपने और दूसरों के कारण पदाघात सहती है किंतु योग्य निमित्त पाकर गुरू की सहायता से अपने व्यक्तित्व का ऐसा विकास करती है कि वह परिपक्व कुंभ का रूप धारण कर लेती हैं परिपक्व मंगल घट बनने पर जिस तरह कुंभ अपनी प्यास बुझाता है और दूसरे की प्यास बुझाने में समर्थ हो जाता है उसी तरह संसारी जीव भी संयम को परिपक्व करके तप अभ्यास करके अपने व्यक्तित्व को ऐसा सुदृढ़ बना लेता है कि वह स्वयं अपना मंगल करता है और दूसरों के मंगल में भी सहायक हो जाता है। उन्होंने क्रोध, मान, माया लोभ के उत्पन्न विकारों का लोभ दुःख का मुख्य कारण माना है। योग्य गुरू की सहायता से व्यक्ति ज्यों–ज्योंक्रोध, मान, माया, लोभ को कमजोर करके अपने में अहिंसामयी कोमल वृत्तियों का विकास करता है, उसका व्यक्तित्व आत्म परहितकारी बन जाता है। संयम की आकृति में ढला ऐसा जीव भी मोक्ष मार्ग पर चलने की योग्यता धारण कर लेता है।

सम्यक ज्ञान का उपयोग

कवि विद्यासागर ने मूक माटी में इस तथ्य पर प्रकाश डाला है कि प्राथमिक दशा में सम्यक आस्था अपनाना चाहिये। तत्पश्चात उसी आस्था के अनुरूप साधना में लग जाना चाहिये। जिस तरह कुंभकार घड़ा बनाने हेतु मिटटी में शुद्ध जल मिलाकर उसे फुलाता है उसी प्रकार मोक्ष के इच्छुक जीव को संयमी व्यक्तित्व तभी प्राप्त होता है जब उसमें किसी परिग्रह से मुक्ताओं के द्वारा ज्ञान जल से भिगोया जाये। सम्यक ज्ञान जल की प्राप्ति अहिंसा

धर्म के पालन से ही प्राप्त होती है। अहिंसा धर्म का पालन जब होता है, जब जीवन चर्या को परिग्रह की गांठ से मुक्त किया जाये। सम्यक ज्ञान प्राप्त होने पर जीव में संवेग आस्तिक्य आदि गुण विकसित हो जाते हैं।

क्रोध, मान, माया, लोभ कषायों को मंद से मंदतर करने के लिये लौकिक स्थाई भावों को महत्वहीन करना आवश्यक है और शांत रस को सर्वाधिक महत्व देना अनिवार्य

मूकमाटी के माध्यम से कवि ने यह दर्शाया है कि परंपरा में संसारी जीव वीर, रौद्र, हास्य, भयानक, वीभत्स आदि भावनाओं को सर्वाधिक महत्व देते हैं और इन्हीं से संचालित होते हैं। किन्तु सभी भाव आत्मा के विकारी भाव हैं इन्हें तिरस्कृत कर जब तक आत्मा में राग द्वेष रहित भाव शांत रस की प्रतिष्ठा नहीं होगी तब तक आत्मा कर्मों की मलिनता से मुक्त नहीं होगी।

वैराग्य की जननी बारह भावनाओं का चिंतन

मूकमाटी में कवि ने यह दर्शाया है कि शांत रसका रसिक बनने के लिये मोक्ष के इच्छुक व्यक्ति को निर्वेद भाव को स्थाई प्रश्रय देना होगा। निर्वेद का अर्थ होता है कि जन आत्मा को छोड़कर पर पदार्थों में इष्ट–अनिष्ट बुद्धि का त्याग कर दिया जाये, तभी वैराग्य की उत्पत्ति होती है। वैराग्य की उत्पत्ति के लिये सहायक यह बारह भावनायें बारस अनुपेक्षाएँ कहलाती हैं। यह क्रमशः अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्त्रव, संवर, निर्जरा आदि हैं। गुरू शिल्पकार अपने शिष्य को जब संयम का अभ्यास कराता है तब उसे प्रारंभ मे कष्ट का अनुभव होता है, किंतु आत्मारूपी केंद्र पर दृष्टि रखने से उसे कष्ट का अनुभव नहीं होता।

तत्व उदघाटक स्मरणीय शिक्षाओं का अंकन (संस्कार)

कवि विदयासागर जी ने मूकमाटी के माध्यम से यह दर्शाया है कि संयमी व्यक्तित्व को सुसज्जित करने के लिये आत्म उत्थानकारी संस्कार दिये जाना आवश्यक है। इनमें प्रमुख हैं संसार की क्षमणभंगुरता तथा आत्म तत्व की चिंरतनता का ज्ञान, मायाचार से बचने की प्रेरणा, निंदा से बचाव, निरंतर गतिशीलता, अनेकांतवादी दृष्टिकोण, स्यादवादमयी हितमितवाणी। कवि के अनुसार जिस तरह कुंभकार अपने घडे को आकर्षणमय बनाने के लिये विभिन्न चित्रों को अंकित करता है वैसे ही गुरू को अपने शिष्य के व्यक्तित्व को गरिमावान बनाने के लिये उक्त संस्कारों का अंकन करना चाहिये।

परिषह उपसर्गों का राग–द्वेष रहित होकर सामना करना

आचार्य विदयासागर ने कुंभ के व्यक्तित्व विकास के माध्यम से यह प्रतिपादित किया है कि जिस तरह पक्का कुंभ औला वृष्टि का सामना कर लेता है और अपने को बिखरने नहीं देता उसी प्रकार मोक्ष के इच्छुक जीव को कष्टमय परिस्थितियां आने पर अपने में राग और द्वेष के मनोभाव नहीं आने देना चाहिये ऐसा होने पर ही परिपक्व व्यक्ति से आत्मा का शाश्वत संगीत निकलता है।

शब्द सो बोध नहीं बोध सो शोध नहीं

आचार्य विदयासागर ने मूकमाटी के माध्यम से समाज में प्रचलित इस अंध–विश्वास को भी दूर करने की चेष्टा की है कि शब्द ज्ञानी या विदवान आत्मज्ञानी होता है। आचार्य विदयासागर के मत में मात्र शब्द ज्ञान कर लेना मोक्ष की साधना नहीं है इसी प्रकार ज्ञान रहित नियम पालन से भी आत्मा का कल्याण नहीं होता। शोध या आत्मा की शुद्धानुभूति तब होती है जब शब्द ज्ञान करके हम संयम धारण करें, पापों से बचें और पुण्य के माध्यम से आगे बढ़ते–बढ़ते आत्म तत्व की खोज करें यद्यपि इसमें साधन साध्य का संबंध है परंतु यह पर्याय नहीं है। तीनों के संबंध को बतलाते हुये वे कहते हैं कि शब्द के माध्यम से बोध होता है लेकिन बोध या संयम का यह फूल ही शुद्धानुभूति के फल में बदलता है।

मोह और मोक्ष के आशय की सरल रूप में अभिव्यक्ति

कवि ने बड़े सरल शब्दों में यह बताया है कि अपने को छोड़कर पर पदार्थ में राग द्वेष करना मोह है, मिथ्या ज्ञान है सबको छोड़कर निजात्मा में भावित होना ही मोक्ष है।

उदात्त चरित्र योजना –

कवि विदयासागर जी ने महाकाव्य की गरिमा के अनुरूप उदात्त चरित योजना में सुलभता प्राप्त की है। उदात्त उददेश्य की पूर्ति करने में सहायक पात्र उदात्त चरित्र वाले कहलाते हैं।इनका क्रमिक विकास उन्होंने मूकमाटी में दर्शाया है। इन उदात्त पात्रों का परिचय निम्नानुसार है –

माटी : माटी को कवि ने मोक्ष की इच्छुक जीवात्मा के प्रतीक रूप में प्रस्तुत किया है। वह गुरू की आज्ञा मानने वाली और क्रमशः अपनी कषायों को मंद से मंदतर करने वाली शक्ति के रूप में वर्णित की गई है। उसके विकसित व्यक्तित्व में निम्न गुणों का समावेश कवि ने किया है –

क. इष्ट–अनिष्ट मेंसमता भाव :माटी का जीव सांसारिक पदार्थों में इष्ट–अनिष्ट बुद्धि का त्याग करता है उसी कारण उसमें राग द्वेष आदि पाप उत्पादक शक्तियां बलवती नही हो पातीं।

सधर्मी सहयोगी के प्रति अनुकंपा गुणः मोक्ष की इच्छुक जीवात्मा (माटी) में प्रारंभ से ही जीवदया और अनुकंपा गुण की प्रतिष्ठा कवि ने की है।

हित मित प्रिय वचनावली का प्रयोग : मुमुक्षु माटी अपने से विरोधी भाव रखने वालों से बैर भाव नहीं रखती, वह उनके हित की बात मृदु वचनावली में करती है।

गधाः गधे को आचार्य विदयासागर ने एक ऐसे सेवाभावी व्यक्ति के प्रतीक के रूप में प्रस्तुत किया है जिसे दूसरों की पीड़ा हरने में आनंद आता है। वह सहयोग के बदले किसी लौकिक लाभ की इच्छा नहीं रखता। वह भगवान से प्रार्थना करता है, कि मुझे औरों की पीड़ा दूर करने के कार्य में लगने की शक्ति दे।

कुंभकार : कुंभकार को कवि ने ऐसे पात्र के रूप में चित्रित किया है जो अपने ज्ञान और आचरण का उपयोग दूसरे जीवों के कल्याण में करता है, इसके बदले में किसी तरह का आर्थिक लाभ नहीं उठाता। उसके व्यक्तित्व में कवि ने निम्न विशेष गुण दर्शाये हैं –

आत्मा एवं शुद्ध जल से संयुक्त जीव दशा का भेद विज्ञान–

सम्यक दृष्टि श्रावक निर्लोभी, समाज सेवक, अहिंसा धर्म पर सावधानी से चलने वाला दानवीर क्षमा का अवतार, वैराग्य भावनाओं का चिंतन करने वाला, अहंकार का त्यागी एवं कर्तव्य बोध से परिचालित होता है।

सूर्य नारायण : सूर्य नारायण को कवि ने अमूर्त सम्यक ज्ञान के प्रतीक रूप में चित्रित किया है। जड़ पदार्थों को महत्व देने वाला समुद्र जब कुंभ के संयमी व्यक्तित्व को नष्ट करने के लिये सक्रिय होता है तब सम्यक ज्ञान का सूर्य ही उनके विरूद्ध संघर्ष करता है। वह लेश्याओं के बादल पराजित कर कुंभ के मंगल गुणों की रक्षा करता है।

श्रावक सेठ : मूकमाटी में श्रावक सेठ सम्यक आसक्ति से संपन्न धर्मानुरागी व्यक्ति के रूप में प्रस्तुत किया है। यह वीतरागी संतों की सेवा में अपने जीवन की सार्थकता मानता है। वह विशाल वैभव का स्वामी है किन्तु सदपात्रों के प्रति विनयशील है। उसमें धर्म मद, रूप मद, शक्ति मद, जैसी बुराईयां नहीं हैं वह हिंसा को टालने के लिये अपनी शक्ति और धन का उपयोग करने के बजाय वनकी ओर प्रस्थान करता है। जब आंतकवाद संकट में फंस जाताहै और अपनी भूल की क्षमा मांगता है तब श्रावक सेठ उन्हें भी क्षमा दान कर देता है।

श्रमण संतःकवि विदयासागर ने श्रमण संत को एक सच्चे साधु के रूप में प्रस्तुत किया है। श्रमण संत पाप प्रपंचों के त्यागी हैं वे पवन की तरह निर्मोही है। सभी प्रकार के सांसारिक भोग सामग्री से रहित हैं फिर भी सिंह की तरह निर्भीक हैं और दयालु हैं, स्वतंत्रता प्रिय हैं और अपनी आत्मा को कर्म बंधन से मुक्त करने की साधना में लगे हैं। वे वृक्ष की तरह विनयशील हैं, परोपकारी हैं, शत्रु–मित्र मान–अपमान, कष्ट–सुविधा किसी में भी वे राग द्वेष नहीं करते, उन्होंने लौकिक कामनाओं पर विजय प्राप्त कर ली है। वे सदैव हित मित प्रिय वचन बोलते हैं। यशस्वी, मनस्वी और तपस्वी होकर भी वे अपनी प्रशंसा नहीं चाहते। वे सभी तरह के कष्टों और विघ्न बाधाओं को समता पूर्वक सहन करते हैं। निज दोषों के प्रक्षालन हेतु वे आत्मा लोचन करते हैं। इंद्रियों की आकांक्षाओं पर उन्होंने विजय प्राप्त कर ली है।

उदात्त भाव व्यंजना : मूक माटी में आदि से अंत तक उदात्त भावों की ही व्यंजना की गई है। इस कृति का मुख्य भाव शांत रस है। शांत रस को कवि ने रसराज संबोधित किया है। भारतीय काव्य शास्त्रियों ने श्रृंगार को रसराज कहा है लेकिन विदयासागर आत्म कल्याण की अपेक्षा से श्रृंगार आदि रसों को दुःखदायी मानते हैं और सभी लौकिक रसों के अंत को रसराज शाांत रस कहा है। यद्यपि, करूणा और वात्सल्य रस का महत्व भी उन्होंने प्रतिपादित किया है किंतु शांत रस को आत्मा से परमात्मा बना देने वाला रस कहा है। निम्न पंक्तियाँ दृष्टव्य है –

करूण रस जीवन का प्राण है
धम धम समीर धर्मी है
वात्सल्य जीवन का त्राण है
धवलिम नीर धर्मी है
किन्तु यह द्वैत जगत की बात हुई
शांत रस जीवन का गान है
मधुरिम क्षीर धर्मी है
करूण रस उसे माना है जो कठिनतम पाषाण को भी मोम बना देता है
वात्सल्य का बाना है जघनतम नादान को भी सोम बना देता है
किन्तु वह लौकिक चमत्कार की बात हुई
शांत रस का क्या कहें
संयमरत धीमान को भी ओम बना देता है।

उपर्युक्त पंक्तियों से स्पष्ट है कि विदयासागर शांत रस को रसराज इसलिये मानते हैं क्योंकि वह संयम रत नर को नारायण, परमात्मा या ऊँ बना देता है। शांत रस को महत्ता देने के कारण इस कृति में वर्णित सभी भाव उसी के सहायक या संचारी बनकर अभिव्यंजित हुये हैं। इन उदात्त संचारी संवेदनाओं को निम्न शीर्षकों में रखा जा सकता है :–

जीव के विकारी रूप में ममत्व बुद्धि का त्याग–

आचार्य विदयासागर ने इस कृति में स्थल–स्थल पर वह भाव जाग्रत किये हैं कि अनंत शक्ति संपन्न जीवात्मा अनादि काल से कर्मों के संयोग से अशुद्ध हो गया है। इस अशुद्ध रूप को ही जीव अपना वास्तविक रूप होने का भ्रम पाले हुये है और इस कारण उससे ममत्व बुद्धि रखता है। अपने अशुद्ध रूप के प्रति ममत्व बुद्धि का त्याग कर शुद्ध रूप में प्रगट होना ही जीव का लक्ष्य है।

सद्गुरू के प्रति शरणागत भक्ति–

मूकमाटी के कवि ने यह उदात्त भाव अनेक प्रसंगों के माध्यम से जाग्रत किया है कि बिना सद्गुरू की सहायता के न तो हम शुद्ध आत्मा के बारे में समझ सकते हैं न अशुद्धियों के कारणों को समझ सकते हैं और न हीं उन्हें दूर करने के उपायों का अनुसरण कर सकते हैं। अतः लोभ लालच से दूर रहने वाला ज्ञान–ध्यान में लीन गुरू ही सद्गुरू हो सकता है। ऐसा गुरू दया का अवतार होता है और शिष्य की क्षमता का ध्यान रखकर ही उसे कर्म–मुक्ति संबंधी नियम देता है। अतः शिष्य को पूर्ण समर्पण भाव से सद्गुरू की शरण में जाना चाहिये।

आस्था के विषय को साधना के साँचे में क्रियान्वित करना

आचार्य विदयासागर ने यह भाव जाग्रत किया है कि यदि आस्था का विषय क्रियान्वित नहीं किया जाता तो वह धीरे धीरे सोडावाटर के जोश की तरह शांत हो जाता है। अतः आस्था के विषय को साधना के साँचे में ढाल देना उचित होगा। जो लोग अनुकूल अवसर के इंतजार में क्रियान्वयन से बचते हैं उनके उत्साह में वृद्धि करने के लिये मूकमाटी में यह दर्शाया गया है कि भूल गलती के बावजूद भी साधना पथ पर चलने वाले को लाभ मिलकर ही रहता है।

करूणा भाव : आचार्य विदयासागर ने अनेक प्रसंगों के वर्णन द्वारा करूणा के कल्याकारी रूपों से न केवल परिचय कराया है बल्कि यह भाव उद्वेलित किया है कि करूणा आत्मा को पवित्र करने का श्रेष्ठ साधन है। कवि का श्रेष्ठ रूप वहां होता है जहां पर पीड़ा को दूर करने की इच्छा से परिचालित होता है। उनके अनुसार दूसरे पर दया करने से स्व–आत्मा की याद आती है। दया विकसित होकर मोक्ष की मंजिल तक पहुँचाती है। उनके अनुसार करूणा का केंद्र संवेदनधर्मा चेतन है। यहीचेतन तो अमृत का भंडार है। करूणा की कर्णिका से ही समता अर्थात राग द्वेष रहित आत्म भाव की सौरभ आती है। मूक माटी में पीड़ित पात्रों के प्रति करूणा का प्रसार इतना बताया गया है कि दुष्ट व्यक्ति भी जब पीड़ा से घिर जाता है तो सज्जन की करूणा उस पर भी द्रवीभूत हो जाती है।

वीर रसः मूकमाटी काव्य में वीर रस के उदात्त रूप की व्यंजना भी विस्तार से हुई है। वीर रस की व्यंजना हेतु नायक और खलनायक पात्रों का संघर्ष दिखाया गया है। आचार्य विदयासागर ने वीरता के इस रूप के स्थान पर सद्गुणों के द्वारा दुर्गुणों पर विजय के संघर्ष को दिखाया है। मिथ्यात्व के सागर की सेना जब सम्यक के सूर्य से भिड़ती है और सम्यक सूर्य और संयम के परमाणु जब उस युद्ध में मिथ्यात्व के समुद्र की पापसेना को पराजित करतेहैं तो इससे वीर रस का एक बड़ा ही उदात्त रूप हमारे समक्ष आता है।

दानवीरता : मूक माटी में ज्ञानदान, भोजन दान, श्रमदान, औषधि दान, अभयदान, क्षमा दान आदि के भावात्मक रूप से बड़े ही मनोहारी चित्र प्रस्तुत किये गये हैं। कुंभकार गुरू निःशुल्क

शिक्षा दान करते हुये वर्णित हैं। भोजन दान के लिये आचार्य विदयासागर ने श्रेष्ठ पात्र का होना जरूरी बताया है। उनके अनुसार सर्वोत्तम पात्र वह है जिसने लौकिक इच्छाओं पर विजय प्राप्त कर ली है, जो आत्मा के बाहर सभी वस्तुओं यहां तक कि अपने शरीर को भी पराया समझता हो, जो आत्मा को कर्म बंधन से मुक्त करने के साधना पथ पर चल रहा हो। मूकमाटी में उत्तम क्षमादान जहां क्रोध की परिस्थिति उत्पन्न होने पर भी मन में क्रोध से या प्रतिशोध लेने के भाव न आये। कुंभकार द्वारा बदला लेने और कष्ट पहुंचाने वाले को भी क्षमादान करते हुये दर्शाया गया है।

क्रोध, मान, माया लोभ भावों को कमजोर करने की भावना : मूकमाटी का प्रमुख प्रतिपाद्य यही है उक्त चार कषायें आत्मा को कर्म बंधन से कसती हैं अतः इन कषायों की प्रेरणा से कार्य करने से बचना ही सही पुरूषार्थ है। जब जीव इन चार कषायों को मंद से मंदतर बनाता है और मंदतम बना देता है तभी उसके कर्मबंधन ढीले होकर छूट जाते हैं।

मैत्रीभाव : मूकमाटी में दया और अनुकम्पा के भावों पर आधारित मैत्री भाव का महत्व बताया गया है। लोक में प्रायः अपनी सहायता करने वाले, मनोरंजन करने वाले या सहकर्मियों के प्रति राग को मैत्री भाव माना जाता है। किंतु मूकमाटी में यह प्रतिष्ठित किया गया है कि प्राणिमात्र हमारा मित्र है। अतः अन्याय से ग्रस्त व्यक्ति के संकट दूर करने और अन्यायी के न्याय के पथ पर लाने की अनुकंपा ही सच्चा मैत्री भाव है। कवि ने इस विश्व कल्याणकारी मैत्री भाव को स्थल–स्थल पर मूकमाटी में जाग्रत किया है।

पुण्य भाव का स्वागत : मूक माटी के तृतीय खण्ड में जहाँ अनेक कल्याणकारी भाव संवेदनों को कवि ने जाग्रत किया है, वहीं इस खण्ड में समग्र प्रभाव के रूप में यह स्थापित किया है कि पाप कर्मों से सुरक्षा के लिये पुण्य भावों का आश्रय लेना चाहिये। श्रमण दर्शन गीता एवं अद्वैत वेदांत के ग्रंथों में मोक्ष की अंतिम सीढ़ी पर पहुंचकर अशुभ कर्मों के साथ शुभ कर्मों के त्याग की उपादेयता भी वर्णित है। अल्प बुद्धि लोग भ्रमवश पुण्य कर्मों को भी अशुभ कर्मों की भांति त्याज्य मानने लगते हैं। आचार्य विदयासागर ने मूक माटी में यह दर्शाया है कि शुभ कर्म या पुण्य पाप के मैल को धोने के लिये आवश्यक हैं और बाद में मोक्ष की मंजिल पर पहुँचकर पुण्य से भी आसक्ति का त्याग करना पड़ता है। किंतु पुण्य उच्च मंजिल तक साधक का साथ देता है, अतः पुण्य कर्मों के फल के प्रति आसक्ति का त्याग तो ठीक है किन्तु पुण्य का लाभ तो लेना ही होगा।

भाग्यवाद या नियतिवाद की धारणाओं का उदात्तीकरण

आचार्य विदयासागर ने मूक माटी में यह प्रतिपादित किया है कि भाग्य या नियति किसी ईश्वर का लिखा लेख नहीं है बल्कि पूर्व कर्म के प्रतीक्षित फल ही भाग्य कहलाते हैं।

भाग्य के आगे पुरूषार्थ घुटने नहीं टेकता बल्कि पुरूषार्थ के आगे भाग्य को घुटने टेकने पड़ते हैं जो लोग नियति और भाग्य को पर्यायवाची मानते हैं उनको समझाते हुये आचार्य विदयासागर कहते हैं –

नियति शब्द में, नियानि निज में
ही यति यानि यतन स्थिरता है
अपने में लीन होना ही नियति है
निश्चय से यही यति है
और पुरूष यानि परमात्मा है
अर्थ यानि प्राप्तव्य प्रयोजन है
आत्मा को छोड़कर
सब पदार्थो को विस्मृत करना ही सही पुरूषार्थ है।

समय की गुलामी से मुक्ति का भाव– प्राचीनकाल से अनेक धर्मों ने समय को बड़ा बलवान और जीव के सुख– दुःख का नियामक तत्व माना है। प्रायः जो सुख और दुख को समय की देन या उसके मिजाज को पलटना मानता हैंओर समझते है कि समय की शक्ति के आगे पुरूषार्थ काम नहीं करता। आचार्य विदयासागर ने मूक माटी में यह दर्शाया है कि सतयुग या कलियुग में सुख या दुख देने की शक्ति नहीं होती, इसके विपरीत जब कर्मों का दुख देने का समय आता है तो हम उसे कलियुग कहने लगते हैं।

इसी प्रकार जब कर्म बंध सुखात्मक फल देने लगता है तो हम उसे सतयुग मानने लगते हैं। सुख दुख के लिये आचार्य विदयासागर कर्म फलों को उत्तरदायी मानते हैं।

श्रवण सुख देने वाले संगीत की अतिश्योक्ति पूर्ण महिमा का खंडन

आचार्य विदयासागर ने मूक माटी में यह प्रतिपादित किया है कि श्रवण इंद्रिय एवं उसके माध्यम से मन को क्षणिक सुख देने वाली संगीत की शक्ति का अतिशय महत्व मानना उचित नहीं है। संगीत रसिक कभी कभी यह भी कहने लगतें हैं कि स्वर साक्षात ब्रह्मानंद देता है। ईश्वर ने भी स्वर संगीत को अपनाया है स्वर संगीत के बिना शाश्वत सुख नहीं मिल सकता किन्तु आचार्य विदयासागर कहते हैं कि स्वर संगीत नाशवान है जबकि ईश्वर अनश्वर है। अनश्वर ईश्वर से नश्वर संगीत नहीं निकल सकता इसलिये सच्चा संगीत वहीं है जो संगीत हो अर्थात आत्मा से भिन्न पदार्थों के प्रति ममत्व बुद्धि का त्याग कर ही हम अंगातीत संगीत या सच्चे संगीत तक पहुँच सकते हैं। स्वर संगीत की तो सीमा होती है किन्तु अंगातीत संगीत की कोई सीमा नहीं होती वह सप्त स्वरों से अतीत होता है।

उदात्त भाषा शैली :

मूकमाटी काव्य में आचार्य विदसासागर ने शब्द चयन, वाक्य योजना, अलंकार योजना, प्रतीक विधान आदि के क्षेत्र में उदात्त गुणों का समावेश किया है। कवि ने शब्द चयन में मानकीकरण का ध्यान रखा है साथ ही सहज बोधगम्यता को भी दृष्टि में रखकर दोनों का समन्वय किया है। काव्य में तत्सम, तदभव और देशज तथा आगत स्त्रोतों से भी आवश्यकतानुसार शब्द लिये गये हैं। किन्तु, इन सबके चयन में इन सबका उददेश्य भावों को सहजता से प्रगट करना रहा है। यद्यपि, आध्यात्मिक अनुभूतियों को प्रगट करने की आवश्यकता के कारण कहीं कहीं दुरूहता दिखलायी देती है पर वह दुरूहता विषय–वस्तुगत है, भाषा संबंधी नहीं। कवि ने विषय प्रतिपादन की आवश्यकता को ध्यान में रखकर शब्दों का उपयोग सावधानीपूर्वक किया है। गूढ़ विचारों तथा उनसे अनुरंजित भाव दशाओं को प्रगट करने हेतु संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग है किंतु वे नीरस प्रतीत नहीं होते। कहीं–कहीं कवि को पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग भी करना पड़ा है। ऐसे प्रसंग में भाषा कुछ दुरूह अवश्य लगती है किंतु यदि पाठक उनका अर्थ ज्ञान करे तो वर्णन दुरूह नहीं लगता। शब्द योजना को संगीत माधुर्य से युक्त करने के लिये कवि ने अनुप्रासयुक्त शब्दावली को उपयोगी माना है। कवि विदयासागर का शब्दज्ञान इतना विशाल है कि अनुप्रास युक्त शब्दावली भावों के अनुकूल आती गई है और वह कृत्रिम नहीं लगती। कवि ने अनेक स्थलों पर यमक अलंकार विधायक शब्दों का प्रयोग भी किया है। लेकिन यहां भी उनकी दृष्टि भावानुकूलिता पर विशेष रही है। अर्थालंकारों के प्रयोग में आचार्य विदयासागर ने मूकमाटी में भाव व्यंजना को प्रमुखता दी है। उनके द्वारा प्रयुक्त अधिकाँश अप्रस्तुत बिम्ब जीवन के परिचित प्रसंगों से संबंधित हैं, इसीलिये वे गहन आध्यात्मिक विषयों को ह्रदयंगम कराने में सफल हुये हैं।

प्रतीक योजना– अभिव्यंजना शिल्प की दृष्टि से मूकमाटी की सबसे बड़ी विशेषता विराट प्रतीक योजना है। इस कृति के मुख्य पात्र और उनके कार्य व्यापारों का वर्णन कवि ने अप्रस्तुत प्रसंग वर्णन के माध्यम से किया है। उन्होंने शब्दगत प्रतीक वाक्यगत प्रतीक तथा छंदगत आकार की विशाल प्रतीक योजना का आश्रय तो लिया ही है किंतु संपूर्ण प्रबंध के कथानक में उनकी प्रतीक पद्धति समाहित है।

जिस तरह जयशंकर प्रसाद ने कामायनी में तथा मलिक मोहम्मद जायसी ने पदमावत में अप्रस्तुत कथा के द्वारा प्रस्तुत कथा की व्यंजना कराई है उसी प्रकार आचार्य विदयासागर ने भी अप्रस्तुत कथा के द्वारा मोक्ष मार्ग में योग्यता का विकास करने वाले जीव मूकमाटी की कथा को प्रगट किया है। मूकमाटी प्रतीक योजना की दृष्टि से आधुनिक हिंदी साहित्य की श्रेष्ठतम उपलब्धियों में से एक मानी गई है।

इसमें मूकमाटी एक ऐसे जीव का प्रतीक है जिसकी मोक्ष मार्ग पर चलने की शक्तियाँ अप्रगट हैं। कवि ने यह दर्शाया है कि जिस तरह मिटटी में पक्के कुंभ बनने की शक्ति है

उसी प्रकार साधारण जीव भी परिपक्व संयमी व्यक्तित्व धारण करने की शक्ति रखता है। मिटटी को परिपक्व कुंभ का रूप देने के लिये कुम्हार मिटटी को छानता है, कंकरों को अलग करता है, साफ पानी डालकर माटी को फुलाता है मिटटी को रौंदता है, नरम लुगदी बनाकर चाक पर रखता है कुंभकार फिर उसे कुंभ रूप देता है, उसे सुखाता है, एकदिन छोटी डंडी से उसके दोष दूर करता है और उसके बाद उसे अवा में तपाकर ऐसा कुंभ बना देता है जिसमें पानी भरने पर न तो पानी बिखरता है, न कुंभ फूटता है बल्कि कुंभ शीतल जल से दूसरों की प्यास बुझाने का साधन बन जाता है।

आचार्य विदयासागर के अनुसार इसी प्रकार गुरू अपरिपक्व जीवात्मा को संस्कारित कर एक नरम प्रकृति का व्यक्ति बना देता है। वह व्यक्ति तपनियमों की आँच में तपकर ऐसा व्यक्ति बन जाता है जहाँ से वह बाहरी ज्ञान से विखरता नही हैं वह अपने में ज्ञान को स्थिर करता है औरराग द्वेष की प्रवृत्तियाँ उसे विचलित नहीं कर पाती। वह दूसरों के कल्याण में भी निमित्त बनता है। आचार्य विदयासागर ने यह बताया है जिस तरह कुँभ पक्का हो जाने पर आँधी पानी वर्षा औला वृष्टि, बाढ के प्रकोप से अपने को बचा लेता है और दूसरों की भी रक्षा करता है। इसी प्रकार संयमी जीव अपनी परिपक्व शक्तियों के द्वारा स्वयं की भी रक्षा करता है और दूसरे जीवों का भी आत्म–कल्याण का मार्ग प्रशस्त करता है।

दीर्घ प्रश्न

1. महाकाव्य की दृष्टि से 'मूकमाटी' की समीक्षा कीजिए।

अथवा

आचार्य विदयासागर कृत 'मूकमाटी' के महाकाव्य पर प्रकाश डालिए।

2. विद्यासागर के महाकाव्य 'मूकमाटी' में उदात्त चरित्रों की सफल योजना है आप इससे कहाँ तक सहमत हैं ?
3. 'मूकमाटी' का कथानक संक्षेप में लिखिए।
4. मूकमाटी' के उददेश्य पर प्रकाश डालिए।

नोट– इन प्रश्नों के उत्तर के लिये यूनिट 4 देखें।

लघु उत्तरीय प्रश्न –

1. मूकमाटी' में कवि ने किस प्रकार की भाषा का प्रयोग किया है ? स्पष्ट कीजिए ?

उत्तरः 'मूकमाटी' में भावानुरूप भाषा का प्रयोग मिलता है। इसमें कहीं संस्कृतनिष्ठ तथा कहीं सरल और प्रवाहमयी भाषा है। शब्द चयन में कवि ने मानकीकरण का ध्यान रखा है। इस काव्य में तत्सम, तदभव, देशज तथा आगत स्त्रोतों में प्राप्त शब्द यथा स्थान प्रयुक्त हैं। गूढ विचारों और भाव दशाओं को व्यक्त करने हेतु संस्कृत के तत्सम शब्दों को अपनाया गया है। काव्य में भाषा भावाभिव्यंजना में कहीं बाधक नहीं हैं सर्वत्र बोधगम्यता और सहजता दिखाई देती है।

2. मूकमाटी' में प्रयुक्त अलंकारों पर प्रकाश डालिये।

उ. यद्यपि 'मूकमाटी' भाव प्रधान काव्य है तथापि कविने इसमें यथास्थान अलंकारों का प्रयोग किया है। इन्होंने शब्दालंकार और अर्थालंकारों को भावोत्कर्ष के लिए अपनाया है। इस काव्य कृति में अनुप्रास, यमक, उपमा, रूपक जैसे अलंकारों का अधिक प्रयोग मिलता है। वस्तुतः अलंकार काव्य के उत्कर्षक है।

3. प्रतीक विधान की दृष्टि में 'मूकमाटी' काव्य की विवेचना कीजिए।

उ. आचार्य विदयासागर के काव्य 'मूकमाटी' में प्रतीकों का अधिक प्रयोग हुआ है। इस कृति के मुख्य पात्रों और उनके कार्य व्यापारों का वर्णन कवि ने अप्रस्तुत प्रसंग वर्णन के माध्यम से किया है। उनके संपूर्ण प्रबंध के कथानक में प्रतीक पद्धति दृष्टिगोचर होती है। यही नहीं, शब्दगत प्रतीक, वाक्यगत प्रतीक तथा छंद आकार की प्रतीक योजना काव्योत्कर्षक है।

वस्तुनिष्ठ :

1. जब समाज में पाप, दुराचार आदि बुरी प्रवृतियाँ बढने लगती है तब उस समय को लोग क्या कहने लगते हैं ?

(क) सतयुग **(ख) कलियुग** (ग) त्रेतायुग (घ) द्वापरयुग

2. वैराग्य की जननी कितनी भावनाएँ होती हैं ?

(क) ग्यारह **(ख) बारह** (ग)सात (घ)नौं

3. हित की बातों को किस प्रकार की वचनावली द्वारा कहना चाहिए ?

(क)कठोर **(ख) प्रिय** (ग) अप्रिय (घ) कर्कश

4. आत्मा में राग द्वेष रहित भाव उत्पन्न होने पर किस रस की सृष्टि होती है ?

(क) श्रृंगार रस (ख) वीर रस **(ग) शांत रस** (घ) करूणा रस

5. सेवा भावी व्यक्ति को दूसरों की पीड़ा हरने में कैसा भाव अनुभव होता है ?

(क) दुख **(ख) आनंद** (ग) द्वेष (घ) ईर्ष्या

———————

इकाई–5

मूकमाटी के प्रमुख पद्यों की व्याख्या

''स्वयं पतिता हूँ
और पातिता हूँ औरों से,
....अधम पापियों से
पद–दलिता हूँ माँ!
सुख–मुक्ता हूँ
दुःख–युक्ता हूँ
तिरस्कृत त्यक्ता हूँ माँ !
इसकी पीड़ा अव्यक्ता है
व्यक्त किसके सम्मुख करूँ !
क्रम–हीना हूँ
पराक्रम से रीता
विपरीता है इसकी भाग्य रेखा।
यातनायें पीड़ायें ये !
कितनी तरह की वेदनायें
कितनी और ..... आगे
कब तक .... पता नहीं
इनका छोर है या नहीं !
श्वास–श्वास पर
नासिका बन्द कर
आर्त–घुली घूँट
बस
पीती ही आ रही हूँ
और
इस घटना से कहीं
दूसरे दुःखित न हों
मुख पर घूँघट लाती हूँ
घुटन छुपाती–छुपाती
....घूँट
पीती ही जा रही हूँ,

केवल कहने को
जीती ही आ रही हूँ।

शब्दार्थ–अधम–नीच, नासिका–नाक, रीता–खाली,पद–दलिता–पैरों से रोंदी गईविपरीता–उल्टी।

संदर्भ एवं प्रसंग – प्रस्तुत पंक्तियां आचार्य विद्यासागर द्वारा रचित महाकाव्य मूकमाटी से ली गई है। यहाँ मूकमाटी एक मोक्ष की इच्छुक जीवात्मा का प्रतीक है। मूकमाटी अपनी आत्मसत्ता रूप माँ से सांसारिक दुखों को प्रगट करती हुई कहती है कि :–

व्याख्या – मैं सांसारिक दुखों से पीड़ित हूँ हे माँ ! मैं अपने कारणों से भी दुख भोग रही हूँ और दूसरों के कारणों से भी मुझे दुख भोगने पड़ रहे हैं। मैं दुष्ट पापी लोगों के द्वारा रोंदी जा रही हूँ। मेरा जीवन सुख से अलग है, और दुखों से युक्त है। सभी के द्वारा मुझे तिरस्कृत किया जाता है। सभी ने मुझे दुख झेलने के लिये अकेला छोड़ दिया है। मेरे मन की पीड़ा प्रकट नहीं की जा सकती, मैं किसके समक्ष अपना दुख प्रकट करूं। कोई भी उसे दूर करने में सहायक नहीं दिखाई देता। मेरा जीवन विकास के क्रम से हीन है। मै अपने को शक्तिहीन अनुभव कर रही हूँ। यदि दुख दूर करने के लिए कोई उपाय करती हूँ तो उल्टा परिणाम देखने को मिलता है। अर्थात जो उपाय करती हूँ उससे दुख और बढ़ जाता है। लगता है, भाग्य ही उल्टी दिशा में ले जा रहा है।

हे माँ। तुम्हीं बताओ मेरी शारीरिक पीड़ाओं एवं मानसिक यातनाओं का कोई ओर–छोर (प्रारंभ और अंत) है या नहीं। यह दुख कितने प्रकार के हैं. और भविष्य में कितने तरह के और और दुख भोगना पड़ेंगे। अनगिनत दुखों को प्रत्येक सांस के साथ मुझे भोगना पड़ रहा है। मैं सांस रोककर दुख को निरंतर भोगती चली आ रही हूँ। दूसरे मेरे दुख को देख सुनकर दुखी न हो जायें इसलिए मुख को ढक लेती हूँ और अपनी पीड़ा छुपाती हूँ। इस तरह मेरा जीवन दुख के घूंट पीते हुए बीत रहा है। मेरा जीवन मृतक समान है बस कहने भर को मैं जीवित हूँ। सच्चा सुखमय जीवन मुझे प्राप्त नहीं है।

विशेष – यहाँ मूकमाटी की पीड़ा दर्शायी गयी है जो पापी दुष्टों से दुखित है। तत्सम शब्दों का बाहुल्य तथा प्रतीकात्मकशैली है। जो लाक्षणिक प्रयोग अनूठे हैं।

(2)

''सत्ता शाश्वत होती है, बेटा!
प्रति–सत्ता में होती हैं
अनगिन सम्भावनायें
उत्थान–पतन की,
खसखस के दाने–सा
बहुत छोटा होता है

बड़ का बीज वह !
समुचित क्षेत्र में उसका वपन हो
समयोचित खाद, हवा, जल
उसे मिले
अंकुरित हो, कुछ ही दिनों में
विशाल काय धारण कर
वट के रूप में अवतार लेता है।
यही इसकी महत्ता है।

शब्दार्थ–शाश्वत–कभी नष्ट न होने वाली, अनगिन–न गिने जाने वाली,वपन– बोया जाना, उत्थान–प्रगति, काया–शरीर, महत्ता–महत्व।

संदर्भः–प्रस्तुत पद्यांश आचार्य विद्यासागर द्वारा रचित महाकाव्य ''मूकमाटी'' से उद्घृत है।

प्रसंग – प्रस्तुत पंक्तियों में मोक्षार्थी जीवात्मा को उसी माँ (आत्मसत्ता) सांसारिक दुख अवस्था से निकलने के लिए जीवात्मा में ही छुपी शक्तियों का भान करा रही है।

व्याख्या –मां कहती हैं कि हे बेटा ! प्रत्येक पदार्थ में सत्ता का गुण विद्यमान होता है। जीवसत्ता कभी नष्ट नहीं होती। उसकी शक्तियाँ उसमें छुपी होती हैं। इन शक्तियों के द्वारा वह उत्थान (प्रगति) भी कर सकता है, और प्रतिकूल दिशा में उस शक्ति का उपयोग करने से पतन (दुख) की अवस्था भी प्राप्त कर सकता है। जिस तरह खसखस के दाने जैसा छोटे आकार का बरगद का बीज उचित स्थान में बोया जाय, समय पर उसे खाद, हवा, जल प्राप्त कराया जाये तो वह अंकुरित हो जाता है। विकसित होते–होते वह अंकुरित छोटा पौधा कुछ दिनों बाद वट के विशाल वृक्ष का रूप धारण कर लेता है। यही बीज रूप में उपस्थित सत्ता की महत्ता है। प्रत्येक जीव इसी प्रकार अनुकूल परिस्थितियाँ पाकर अपनी शक्तियाँ (क्षमताएं) विकसित कर परमात्मा रूप विराट सत्ता का रूप धारण कर लेता है। जीवात्मा की यह शक्तियाँ छुपी हुई अवस्था में होती हैं। इन छुपी हुई शक्तियों का परिचय सर्वप्रथम आस्था के द्वारा होता है। सद्गुरू और सद्ग्रंथों में विश्वास कर ही इन छुपी शक्तियों का दर्शन और विकास संभव होता है।

विशेष :– इस कविता में आत्मसत्ता ने मोक्षार्थी जीवात्मा को अपनी शक्तियों का ज्ञान कराया है जिससे वह सांसारिक दुखों से मुक्ति प्राप्त कर सके। यहां उपमा, अलंकार तथा तत्सम शब्दावली का प्रयोग सार्थक है। भाषा बोधगम्य है।

(3)

उजली–उजली जल की धारा
बादलों से झरती है
धरा–धूल में आ धूमिल हो

दल–दल में बदल जाती है।
वही धारा यदि
नीम की जड़ों में जा मिलती
कटुता में ढलती है,
सागर में जा गिरती
लवणाकर कहलाती है
वही धारा, बेटा!
विषधर मुख में जा
विष–हाला में ढलती है,
सागरीय शुक्तिका में गिरती,
यदि स्वाति का काल हो,
मुक्तिका बनकर
झिलमिलाती बेटा,
वही जलीय सत्ता.....।
जैसी संगति मिलती है
वैसी मति होती है
मति जैसी, अग्रिम गति
मिलती जाती..... मिलती जाती....
और यही हुआ है
युगों–युगों से
भवों–भवों से !

शब्दार्थ–धरा–पृथ्वी, कटुता–कड़वापन, लवणाकर–खारे समुद्र, विषधर–सर्प, शुक्तिका–सीपी, मति–बुद्धि, काल–समय।

संदर्भ एवं प्रसंग– प्रस्तुत काव्य – पंक्तियां आचार्य विद्यासागर द्वारा रचित महाकाव्य ''मूकमाटी'' से उदघृत है। इन पंक्तियों में आत्मसत्ता रूप मां के माध्यम से कवि ने ज्ञानधारा के विभिन्न निमित्तों की संगति में विविध अच्छे–बुरे रूप धारण करने की घटनाओं का वर्णन किया है।

व्याख्या :– 'मूकमाटी' (मोक्ष की इच्छुक आत्मा) से उसकी आत्मसत्ता रूप मां कहती है कि जिस तरह जल की उजली–उजली धारा बादलों से बरस कर धरती की धूल में मिलती है तो कीचड़ जैसी हो जाती है वही जल धारा नीम की जड़ों में जाती है तो नीम के कड़वे स्वाद में बदल जाती है। इसी प्रकार ज्ञान की धारा जब आस्था से संयुक्त व्यक्ति से मिलती है, तो उस ज्ञान धारा का रूप भी वैसे ही भावों वाला हो जाता है। संत स्वभावी आस्था से मिलकर

ज्ञान संत स्वभावी हो जाता है और रागी द्वेषी व्यक्ति के पास जाकर राग द्वेष मय भावों को जन्म देता है। जिस तरह सागर से मिलकर जल की धारा भी खारे जलधि का रूप धारण करती है वैसे ही ज्ञानधारा सद्संगति पाकर संतज्ञान और असत् आसक्ति के मिथ्याज्ञान में बदल जाती है। ज्ञान की वही धारा पापात्मा के साथ पाप में ढलती है तो सत से मिलकर मुक्ति देने वाले ज्ञान सम्यकज्ञान में उसी तरह बदलती है जैसे स्वाति–नक्षत्र में जल की बूंद सागर की सीपी में जाकर मोती बन जाती है। जल जिस तरह संगति के अनुसार अच्छे–बुरे रूप धारण करता है, वैसे ही ज्ञान जल सम्यक आस्था के साथ सम्यक ज्ञान हो जाता है, और मिथ्या–आस्था के साथ मिथ्या ज्ञान में बदल जाता है।

विशेषः इसमें संगति के प्रभाव को दर्शाया गया है। यहाँ स्वाति नक्षत्र की बूंद के माध्यम से सदसंगति का उपदेश दिया गया है। इसमें कवि की ज्ञानोपदेश देने की पद्धति और प्रतिभा का बोध होता है।

(4)

पर्वत की तलहटी से ही
हम देखते हैं कि
उत्तुंग शिखर का
दर्शन होता है,
परन्तु
चरणों का प्रयोग किये बिना
शिखर का स्पर्शन
सम्भव नहीं है!
हाँ ! हाँ !
यह बात सही है कि,
आस्था के बिना रास्ता नहीं
मूल के बिना चूल नहीं,
परन्तु
मूल में कभी
फूल खिले हैं ?
फलों का दल वह
दोलायित होता है
चूल पर ही आखिर!

शब्दार्थ – उत्तुंग –ऊँचें, शिखर–चोटी, आस्था–विश्वास, स्पर्शन– छूना, मूल–जड़।

संदर्भ एवं प्रसंग – प्रस्तुत काव्य, पंक्तियाँ आचार्य विद्यासागर द्वारा रचित महाकाव्य ''मूकमाटी'' से ली गयी हैं।इन पंक्तियों में ''मूकमाटी'' (सांसारिक दुख बंधन से स्थायी मुक्ति चाहने वाली जीवात्मा) से उसकी मां (आत्मसत्ता) जीवन–प्रगति में साधना के महत्व का प्रतिपादन करती हुई कहती है कि दुख बंधन से छुटकारा पाने के लिए मात्र आस्था या श्रद्धा पर्याप्त नहीं है। जिस विषय में (उददेश्य) में आस्था हो उसे यदि वास्तविक जीवन अनुभव का अंग बनाना है तो आस्था का कार्य रूप में परिणत करना आवयक है। इसके लिऐ दूसरे की साधना या कर्म शीलता काम नहीं आती स्वयं ही कार्य करना पड़ता है।

व्याख्या – वह कहती है जिस तरह किसी पर्वत की तलहटी से हम शिखर की चोटी का दर्शन तो कर सकते हैं किन्तु उसका स्पर्श नहीं कर सकते इसी प्रकार आस्था के द्वारा हम शाश्वत सुख दशा का थोड़ा सा परिचय तो प्राप्त कर सकते हैं किन्तु बिना साधना किये उद्देश्य (शाश्वत सुख) का अनुभव नहीं कर सकते। यद्यपि यह बात सही है कि शाश्वत सुख के लिए आस्था का होना एक बुनियादी आवश्यकता है किन्तु मात्र आस्था के द्वारा शाश्वत सुख नहीं मिल सकता। किसी वृक्ष की जड़ के बिना उसकी शाखें ऊँचाई प्राप्त नहीं करतीं। अतः जड़ का भी महत्व है। लेकिन जड़ में कभी फूल नहीं लगते, फूल तो डाली के सर्वोच्च स्थल पर ही होते हैं। इसी तरह आस्था के बिना शाश्वत सुख दशा नहीं होती। आस्था के बल पर जब साधना की जाती है तभी शाश्वत सुख (स्थायी–सुख दशा) की अनुभूति का लक्ष्य पूरा होता है।

विशेष – इसमें प्रगति के लिए साधना के महत्व को दर्शाया गया है। यहाँ अलंकारिक और लाक्षणिक प्रयोग भावोत्कर्षक है। भाषा सहज ओर बोधगम्य है।

(5)

निरन्तर अभ्यास के बाद भी
स्खलन सम्भव है ;
प्रतिदिन–बरसों से
रोटी बनाता–खाता आया हो वह
तथापि
पाक–शास्त्री की पहली रोटी
करड़ी क्यों बनती, बेटा!
इसीलिए सुनो !
आयास से डरना नहीं
आलस्य करना नहीं !
कभी –कभी
साधना के समय

ऐसी भी घाटियाँ आ सकती हैं कि
थोडी–सी प्रतिकूलता में
जिसकी समता वह
आकाश को चूमती थी
उसे भी
विषमता की नागिन
सूँघ सकती है...
और, वह राही
गुम–राह हो सकता है,
उसके मुख से फिर
गम–आह निकल सकती है।
ऐसी स्थिति में
बोधि की चिड़िया वह
फुर्र क्यों न कर जायेगी ?
क्रोध की बुढ़िया वह
गुर्र क्यों न कर जायेगी ?
साधना–स्खलित जीवन में
अनर्थ के सिवा और क्या घटेगा ?
इसलिए
प्रतिकार की पारणा
छोड़नी होगी, बेटा !
अतिचार की धारणा
तोड़नी होगी, बेटा !
अन्यथा,
कालान्तर में निश्चित
ये दोनों
आस्था की आराधना में
विराधना ही सिद्ध होंगी !

शब्दार्थ –निरन्तर–लगातार, पाकशास्त्री–खाना बनाने में कुशल,समता– समानता, बोधि–ज्ञान, प्रतिकार–बदला, कालान्तर–कुछ समय बाद।

संदर्भ एवं प्रसंग – प्रस्तुत काव्य पंक्तियां आचार्य कवि विद्यासागर जी द्वारा रचित महाकाव्य 'मूकमाटी' से ली गयी हैं। इन पंक्तियों में शाश्वत सुख की इच्छुक जीवात्मा को उसकी आत्मा

सत्ता रूप मां साधना मार्ग में कभी नीचे गिरजाने पर भी उठकर सँभल जाने और पुनः साधना पथ पर बढ़ने की प्रेरणा दे रही है।

व्याख्या – ''मूकमाटी'' से उसकी मां कहती है कि साधना के अंतर्गत निरंतर अभ्यास करते–करते असफल हो जाने की संभावना भी रहती है, लेकिन इससे निराश नहीं होना चाहिए। जिस तरह यात्री गिरने पर यात्रा समाप्त नहीं करता थोडी देर बाद संभलकर उठ जाता है और यात्रा पुनः प्रारंभ कर देता है। इसी प्रकार शाश्वत सुख प्राप्ति की साधना में कभी–कभी साधक अपने नियमों से विचलित सा हो जाताहै पर उसे निराश नहीं होना चाहिए। कठिनाई कुछ समय बाद विदा हो जाती है। अतः साधक को बिना घबराये अपनी साधना–अभ्यास चालू रखना चाहिए। जिस तरह बरसों से रोटी बनाने वाले की रोटी भी त्रुटि या लापरवाही से जल जाती है, तो वह रोटी बनाना बंद नहीं करता, इसी प्रकार साधना करते–करते कभी असफल हो जाने पर धैर्य खोना नहीं चाहिए और इसलिए बिना आलस्य किये अभ्यास करते रहना चाहिए। इसका परिणाम सफलता के रूप में मिलता ही है। बस आलस्य से बचना है ताकि पुनः गलती न हो।

कवि कहता है कि कभी–कभी साधना के समय प्रतिकूल परिस्थितियाँ और बाधाएँ उत्पन्न होती हैं किन्तु ज्ञान क्रोधादि के निवारण में सहायक बनता है। साधना से स्खलित होने पर जीवन में अनर्थ ही आता है। अतः बदले की भावना और अत्याचार का त्याग अपेक्षित है क्योंकि ये आस्था की आराधना में बाधक ही सिद्ध होंगे।

विशेष – इस पद्यांश में गिरकर सँभलने ओर पुनः साधना पथ पर बढ़ने की प्रेरणा है। यहाँ रूपकालंकार और लक्षणा शक्ति का प्रयोग काव्यात्कर्षक है।

(6)

प्रकृति और पुरूष के
....सम्मिलन से
विकृति और कलुष के
.....संकुलन से
भीतर ही भीतर
सूक्ष्म–तम
तीसरी वस्तु की
जो रचना होती है,
दूरदर्शक यंत्र से
दृष्ट नहीं होती वह,
समीचीन दूर–दृष्टि में
उतर कर आती है

यह कार्मिक–व्यथन है, माँ!
कर्मों का संश्लेषणहोना,
आत्मा से फिर उनका
स्व–पर कारण वश
विश्लेषण होना,
ये दोनों कार्य
आत्मा की ही
ममता–समता–परिणति पर
आधारित हैं।
सो तुमने सुनाया
सुन लिया इसने
यह धार्मिक–मंथन है, माँ।

शब्दार्थ–पुरूष– आत्मतत्व, समीचीन–सम्यक दर्शन, कार्मिक व्यथन–कर्मों की व्यथा,परिणति–परिणाम।

संदर्भ एंव प्रसंग– प्रस्तुत पद्यांश आचार्य विद्यासागर जी द्वारा रचित ''मूकमाटी'' महाकाव्य से लिया गया है। इसमें मां के द्वारा समझाये जाने पर ''मूकमाटी'' (शाश्वत सुख की इच्छुक जीवात्मा) अपनी मां के समक्ष प्रतिपादित विषय को दुहराकर यह बता रही है कि मैंने आपके विचार और भाव भली भांति समझ लिये हैं।

व्याख्या –''मूकमाटी'' कहती है कि हे मां! जड़ प्रकृति और आत्म तत्व के मिश्रण से संसारी जीवधारियों में ऐसी विकृति ओर कलुषता आ जाती है कि एक तीसरे प्रकार की वस्तु बन जाती है। दैहिक जीवात्मा ऐसी ही तीसरी वस्तु है जो जीव तत्व और जड़ पुद्गल के संयोग से बनी है। आंखों से और दूरदर्शक यंत्रों की सहायता से जड़ और आत्मा का संयोग दिखलायी नहीं देता। लेकिन समीचीन दूर दृष्टि अर्थात सम्यग्दर्शन के माध्यम से इसका पता चल जाता है कि देह साथ पुद्गलों का संयोग एक कर्मसंयुक्त जीव के रूप में हो गया है। अब कर्मों के अनुसार विभिन्न गतियों की व्यथा तब तक भोगता है जब तक कर्मों का संयोग अर्थात आत्मा का जड़ पुद्गलों का संयुक्ती करण समाप्त नहीं हो जाता। आत्मा के साथ कर्मरूप पुद्गलों का संश्लेषण होना (जुड़ना) तथा स्व के पुरूषार्थ और दूसरे के निमित्त साधनों की सहायता से कर्मपरमाणुओं का आत्मा से विलग होना ये दोनों बाते आत्मा के ''मूकमाटी'' रागद्वेष विहीन परिणामों (भीतरी भावों) पर आधारित है।

विशेष – यहाँ यह बताया है कि आत्मा का जड़ पुदगलों में संयोग लक्ष्य–प्राप्ति में बाधक है। इसमें अनुप्राक्षिक और सामासिक पदावली का प्रयोग भावानुकूल है।

(7)

अति के बिना
इति से साक्षात्कार सम्भव नहीं
और
इति के बिना
अथ का दर्शन असम्भव !
अर्थ यह हुआ कि
पीड़ा की अति ही
पीड़ा की इति है
और पीड़ा की इति ही
सुख का अथ .....!

शब्दार्थ – अति–अधिकता, इति–अंत, साक्षात्कार–सामना, पीड़ा–कष्ट।

संदर्भ एवं प्रसंग – प्रस्तुत पंक्तियाँआचार्य विद्यासागर जी द्वारा रचित ''मूकमाटी'' महाकाव्य से ली गयी हैं। इन पंक्तियों में ''मूकमाटी'' के संस्कार शिक्षक (कुंभकार) माटी के मुख से उसकी दुखात्मक में गाथा सुनकर उसे दुख का अंत करने का ढांढस बंधा रहे हैं।

व्याख्या– वह कहता है कि जब तक कोई चीज अति की सीमा पार नहीं करती तब तक आगे का मार्ग नहीं दिखता। अतः तुम्हारे कथन से यह प्रगट होता हैकि तुमने दुख की अति सीमा का अनुभव कर लिया है। इसी बात से यह निश्चित लगता है कि तुम्हारे दुख की इति अर्थात अंत आ चुका है। यह नियम है कि जब तक पूर्व अवस्था अंत नहीं होता नयी अवस्था का प्रारंभ भी असंभव होता है। इससे यह अर्थ निकलता है कि तुम्हारे दुख की चरम स्थिति उसके अंत की सूचना दे रही है और दुख के अंत से ही सुख–अवस्था का प्रारंभ होता है।

विशेष – इसमें दुख–निवृत्ति के मार्ग और सुख–प्राप्ति के साधन का उल्लेख है। यहाँ संस्कृत की शब्दावली का यथोचित प्रयोग मिलता है। लयात्मकता सर्वत्र झलकती है।

(8)

दया का होना ही
जीव – विज्ञान का
सम्यक परिचय है।
परन्तु
पर पर दया करना
वहिदृष्टि – सा.....मोह – मूढ़ता – सा.....
स्व–परिचय से वंचित सा...
अध्यात्म से दूर....

प्रायः लगता है
ऐसी एकान्त धारणा से
अध्यात्म की विराधना होती है।
क्योंकि, सुनो!
स्व के साथ पर का
और
पर के साथ स्व का
ज्ञान होता ही है,
गौण–मुख्यता भले ही हो।
चन्द्र–मण्डल को देखते हैं
नभ–मण्डल भी दिखता है।
पर की दया करने से
स्व की याद आती है
और
स्व की याद ही
स्व–दया है
विलोम रूप से भी
यही अर्थ निकलता है
या...द...द...या....।

शब्दार्थ –सम्यक– भली–भाँति, पर–दूसरे, वहिर्दृष्टि– बाहरी दृष्टि, मूढ़– अज्ञान, विलोम–उल्टा।

संदर्भ एवं प्रसंग – प्रस्तुत पंक्तियाँ आचार्य विद्यासागर जी द्वारा रचित ''मूकमाटी'' महाकाव्य से ली गयी हैं। इन पंक्तियों में मूकमाटी के आत्म मंथन का चित्रण किया गयाहै।

व्याख्या– 'मूकमाटी' (मोक्षार्थी जीव) को गदहे (एक परोपकारी व्यक्ति) के प्रति दया आती है तो वह दया की सार्थकता पर विचार (मंथन) करती हुई स्वयं से कहती है कि दया भाव की उपस्थिति जीव का प्रमुख लक्षण है। कुछ लोगों को दूसरों पर दया करना व्यर्थ की मूर्खता मालूम होती है। वे समझते हैं कि इससे ''स्व'' का भला नहीं होता। आत्मा का कल्याण 'स्व' पर दया करने से होता है। लेकिन यह एक एकान्त धारणा है अर्थात अनेक दृष्टियों से विचार किया गया विराट सत्य नहीं है। ऐसी संकुचित दृष्टि से दया–भाव का मूल्यांकन करना गलत है। इससे आत्म कल्याण संबंधी चिंतन का भी अपमान होता है। यथार्थ यह है कि ''स्व'' के साथ सदैव पर का और ''पर'' के ज्ञान के साथ स्व का ज्ञान कम ज्यादा होता है। जैसे चन्द्रमा पर दृष्टि डालने से आसमान दिखता है और आसमान देखने पर चन्द्रमा भी दिख

जाता है।इसी प्रकार दूसरों पर दया करने से अपनी आत्मा की याद आ जाती है। अतः याद शब्द में जैसे विलोम रूप में दया शब्द छुपा है ऐसे ही दूसरे पर दया करने से आत्म–कल्याण का भाव समाया है। अतः आत्मा का कल्याण चाहने वालों को पर दया करने को महत्व देना चाहिए।

विशेष – इसमें मूकमाटी का आत्मचिन्तन वर्णित है। उसने जीव में दया भाव की उपस्थिति पर बल दिया है। भाषा प्रवाह पूर्ण और भावोत्कर्षक है। अलंकारिक और सामासिक पदावली का प्रयोग सार्थक है।

(9)

माना
प्रति पदार्थ
अपने प्रति
कारक ही होता है
परन्तु
पर के प्रति
उपकारक भी हो सकता है।
और अपने प्रति
करण ही होता है।
परन्तु
पर के प्रति
उपकरण भी हो सकता है
तभी... तो
अन्धा नहीं वह गदहा
मदान्ध भी नहीं,
उसका भीतरी भाग
भीगा हुआ है समूचा।
बाहर आताहै सहज
भावना भाता हुआ
भगवान् से प्रार्थना करता है
कि
मेरा नाम सार्थक हो प्रभो!
यानी

गद का अर्थ है रोग
हा का अर्थ है हारक
मैं सबके रोगों का हन्ता बनूँ
...बस,
और कुछ वाँछा नहीं
गद–हा.. गदहा...!

शब्दार्थ –कारक–कारण, उपकारक–सहायक कारण,करण– मुख्य साधन, उपकरण–साधन, मदान्ध–मद से अंधा, हन्ता–हरण करने वाला, वांछा–इच्छा।

संदर्भ एवं प्रसंग – प्रस्तुत पंक्तियाँ आचार्य विद्यासागर जी द्वारा रचित ''मूकमाटी'' महाकाव्य से ली गयी हैं। इसमें कवि ने गदहे के प्रतीक पात्र द्वारा दया के महत्व पर प्रकाश डालते हुए एक सेवाभावी व्यक्ति की पवित्र भावना का वर्णन किया है।

व्याख्या – गद्हा (एक सेवाभावी व्यक्ति) दूसरे की सहायता करने में आत्मसंताोष का अनुभव करता हुआ स्वयं सोचता है कि माना प्रत्येक पदार्थ अपनी अवस्था विशेष के लिए स्वयं ही मुख्य कारण होता है लेकिन वह दूसरों की अवस्था के लिए सहायक कारण भी बन सकताहै। वह अपनी किसी उन्नति या अवनति के लिए स्वयं ही करण (मुख्य साधन) होता है लेकिन दूसरों की उन्नति अवनति में उप (सहायक) साधन भी बन सकता है। इसीलिए वह विवेकवान गद्हा नशे की हालत में अंधा होकर दूसरों की सहायता हेतु कष्ट सहन नहीं कर रहा। वह तो जानबूझकर दूसरों के लिए कष्ट सहन करने में भी सुख का अनुभव कर रहा है। वह वर्तमान में दूसरों की मदद कर रहा है और भविष्य में भी दूसरों की सहायता करने की भावना भाता हुआ प्रार्थना करता है कि हे प्रभु दूसरों दुख दूर करने वाला (गद्=दुख, हा–हरण करने वाला, बनूं। मैं चाहता हूं कि मैं जन्म–जन्म में दूसरों के रोगों, पीड़ाओं को दूर करने वाला अर्थात (गद् +हा) रोग –हरने वाला बनूं। इसके अतिरिक्त मेरी कोई इच्छा नहीं है।

विशेष : यहाँ गदहे को सेवा भावी व्यक्ति का प्रतीक बताया गया है जो दूसरों की सहायता करने में आत्म संतोष का अनुभव करता है। इसमें दया का महत्व वर्णित है। प्रतीकात्मक शैली तथा भाषा की सहजता और बोधगम्यता दर्शनीय है।

(10)
फिर भी
ऋषि–संतों का
सदुपदेश–सदादेश
हमें यही मिला कि
पापी से नहीं
पाप से,

पंकज से नहीं
पंक से
घृणा करो।
अयि आर्य !
नर से
नारायण बनो
समयोचित कर कार्य।''

शब्दार्थ – सदादेश–सत आज्ञा, पंकज–कमल, पंक–कीचड़, समयोचित–समय के अनुरूप।

संदर्भ एवं प्रसंग – प्रस्तुत पंक्तियाँ आचार्य विद्यासागर जी द्वारा रचित ''मूकमाटी'' महाकाव्य से ली गयी हैं। इन पंक्तियों में मूकमाटी के संस्कार शिक्षक (कुंभकार) मूकमाटी की संगति से लिप्त किये जा रहे कंकरों (क्रोधमान) आदि कठोर भाव रखने वाले संगी–साथियों को समझाते हुए कारण बता रहे हैं।

व्याख्या – बड़े ही मृदुल स्वर में कंकरों को संबोधित करते हुए कुंभकार (संस्कार शिक्षक) कंकरों से कहते हैं कि हमे सद्गुरू संतों से यह सद्शिक्षा मिली है कि पाप प्रवृतियां धारण करने वाले व्यक्तियों से भी घृणा न करके उन्हें हटाने का उपाय करना चाहिए। हमें सच्चे गुरूओं ने आदेश दिया है कि जिस तरह पंक (कीचड़) से दूर रहना चाहिए किंतु कीचड़ से घिरे कमल को प्रेम करना चाहिए, उसी प्रकार पाप से घिरे व्यक्ति की पाप प्रवृत्तियों से घृणा उचित है किंतु उस व्यक्ति की आत्मा से मैत्री भाव रखना उचित है। समय के अनुसार उचित कर्म – साधना करके हम नर से नारायण अर्थात् आत्मा से परमात्मा बन सकते हैं।

विशेष – यहाँ कुंभकार (संस्कार शिक्षक) के सदुपदेशों का वर्णन है जो पापी से नहीं पाप प्रवृतियों से घृणा करने की शिक्षा देता है। इसमें उपदेशात्क शैली तथा संस्कृत निष्ठ भाषा का प्रयोग है जो भावोद्वोधन में बाधक नहीं है।

(11)

''संयम की राह चलो
राही बनना ही तो
हीरा बनना है,
स्वयंराही शब्द ही
विलोम रूप से कह रहा है –
रा....ही....ही....रा
और इतना कठोर बनना होगा
कि
तन और मन को तप की आग में

तपा–तपा कर जला–जला कर
राख करना होगा
यातना घोर करना होगा
तभी कहीं चेतन–आत्मा
खरा उतरेगा।
खरा शब्द भी स्वयं
विलोम रूप से कह रहा है–
राख बने बिना
खरा–दर्शन कहाँ ?
रा....ख....ख...रा

शब्दार्थ – राही–राहगीर, खरा–वास्तविक,यातना–पीड़ा, विलोम–उल्टा।

संदर्भ एवं प्रसंग– प्रस्तुत पंक्तियाँ आचार्य विद्यासागर जी द्वारा रचित ''मूकमाटी'' महाकाव्य से ली गयी हैं। इसमें माटी'' (शाश्वत सुख की चाह करने वाली जीवात्मा) अपने विदा होते साथियों (कंकरों) को संदेश देती है।

व्याख्या– वह कहती है कि हे कंकरों! अब तुम सब आगे की जिंदगी मेंसंयम के नियमों का पालन करो जिससे कठोर प्रवृतियों से मुक्ति मिले। संयम की राह अपनाने वाले राही का जीवन ही हीरे के समान मूल्यवान बनता है। जिस तरह हीरा कठोर होता है उसी तरह नियमों के पालन में कठोरता धारण करना उचित है। हीरे जैसा मूल्यवान व्यक्तित्व पाने के लिए तन और मन को तपस्या के नियमों की आंच देना होगी। जब तप के नियमों के द्वारा क्रोध मान माया की दूषित प्रवृतियां जल कर राख हो जायेंगी तथा चेतन आत्मा के चमकदार गुण विकसित हो पायेंगे। इसके लिए लगातार प्रयत्न करने होंगे। खरा जीवन में खरा शब्द में विलोम रूप से राख उपस्थित है। यह राख शब्द याद दिलाता है कि जब तक व्यक्ति के स्वभाव को दूषित करने वाली प्रवृतियां क्रोध, मान, माय, लोभ आदि नष्ट नहीं होते तब तक आत्मा के खरे (वास्तविक) गुणों के दर्शन नहीं होंगे।

विशेष – यहाँ माटी का कंकरों के लिये संदेश है। वह उन्हें संयम के नियमों के पालन की शिक्षा देता है। इसमें अलंकारिक भाषा–शैली का प्रयोग है।

(12)

अब रस्सी पूछती है रसना से
जिज्ञासा का भाव ले–
कि
''आपके स्वामी को क्या बाधा थी
इस गाँठ से ?''

सो रसना रहस्य खोलती है :
"सुन री रस्सी !
मेरे स्वामी संयमी है हिंसा से भयभीत,
और अहिंसा ही जीवनहै उनका।
उनका कहना है
कि
संयम के बिना आदमी नहीं
यानी
आदमी वही है
जो यथा–योग्य
सही आ...दमी है
हमारी उपास्य देवता
अहिंसा है
और
जहाँ गाँठ–ग्रंन्थि है
वहाँ निश्चित ही
हिंसा छलती है।
अर्थ यह हुआ कि
ग्रन्थि हिंसा की सम्पादिका है
और निर्ग्रन्थ–दशा में ही
अहिंसा पलती है,
पल–पल पनपती,
...बल पातीहै।

शब्दार्थ –रसना–जीभ, जिज्ञासा –जानने की इच्छा, उपास्य – जिनकी उपासना की जाती है।ग्रन्थि–गांठ, निर्ग्रन्थ –गांठ रहित।

संदर्भ एवं प्रसंग – प्रस्तुत पंक्तियाँ आचार्य विद्यासागर जी द्वारा रचित "मूकमाटी" महाकाव्य से ली गयी हैं। इन पंक्तियों में उस अवस्था का वर्णन किया गया है जब रसना (कल्याणकारी वाणी) ज्ञान–जल को भरने हेतु चर्या की रस्सी में लगी परिग्रह की गांठ को खोलती है।

व्याख्या – जब दैनिक आचरण की रस्सी परिग्रह की ग्रंथि खोलने वाली वाणी से पूछती है कि आपके स्वामी (संस्कार शिक्षक) को मुझसे क्या बाधा थी। इसके उत्तर में रसना (स्दज्ञान संयुक्त वाणी) उत्तर देती है कि हे चर्या की रस्सी! मेरे स्वामी संयम धर्म के उपासक हैं। वे हिंसा आदि पांच पापों के त्यागी (संयमी) हैं। संयम धर्म के पालने वाले हिंसा से भयभीत रहते

हैं। उनका जीवन अहिंसा आदि संयम पालन पर आधारित है। अहिंसा आदि संयम के नियमों का पालन किये बिना आदमी सही अर्थों में आदमी अर्थात पापों का दमन करने वाला नहीं बन सकता। सम्यकज्ञान की वाणी समझाती हुई दुहराती है कि हम अहिंसा की उपासना करने वाले साधक हैं और जहां पर परिग्रह की ग्रंथि गांठ होती है वहाँ अहिंसा धर्म का पालन संभव नहीं हो सकता क्योंकि जहाँ परिग्रह की ग्रंथि होती है निश्चित तौर पर जीवन चर्या हिंसा द्वारा धोखा खा जाती है। परिग्रह की ग्रंथि (गांठ) हिंसा का संपादन करती है, अतः लोभ आदि परिग्रह छोड़ना अहिंसा धर्म के पालन हेतु अनिवार्य है। लोभ या परिग्रह के त्याग की दशा में ही अहिंसा धर्म का पालन संभव है। परिग्रह की ग्रंथि (गांठ) के अभाव में अहिंसा धर्म पालन की शक्ति बढ़ती जाती है।

विशेष :– इसमें रसना (वाणी) द्वारा चर्या की रस्सी में लगी परिग्रह की गांठ को खोलने का वर्णन है जिसमें अहिंसा धर्म के पालन की शक्ति में वृद्धि होती है। यहाँ तत्सम और तदभव शब्दों का प्रयोग है। लक्षणा शक्ति का प्रयोग भावोत्कर्षक है।

(13)

दया का कथन निरा है
और
दया का वतन निरा है
एक में जीवन है
एक में जीवन का अभिनय।
अब तो ....
अस्त्रों, शस्त्रों, वस्त्रों
और कृपाणों पर भी
'दया धर्म का मूल है'
लिखा मिलता है।
किन्तु,
कृपाण कृपालु नहीं है
वे स्वयं कहते हैं
हम हैं कृपाण
हम में कृपा न !
कहाँ तक कहें अब !
धर्म का झण्डा भी
डण्डा बन जाता है
शास्त्र शस्त्र बन जाता है

अवसर पाकर।
और प्रभु–स्तुति में तत्पर
सुरीली बाँसुरी भी
बाँस बन पीट सकती है
प्रभु–पथ पर चलने वालों को।
समय की बलिहारी है।'

शब्दार्थ – अभिनय–नाटक, कृपाण–कटार, मूल–जड़, सुरीली– मधुर स्वर वाली, पथ–मार्ग।

संदर्भ एवं प्रसंग – प्रस्तुत पंक्तियाँ आचार्य विद्यासागर जी द्वारा रचित ''मूकमाटी'' महाकाव्य से ली गयी हैं। इन पंक्तियों में मछली (एक अक्षम जीवात्मा) गृहस्थी केकूप से बाहर निकलकर मोक्ष की साधना हेतु जाना चाहती है। उसके साथी गृहस्थ उसे मना करते हैं।

व्याख्या – वह गृहस्थ जीवन की विसंगतियाँ बतलाता हुआ कहता है कि गृहस्थ के कूप जैसे जीवन क्षेत्र में दया का कथन बहुत किया जाता है परंतु वहां दया का वास प्रायः नहीं हो पाता। दया में तो जीव का वास्तविक जीवन तत्व होता है किंतु जहां कथनी में दया रहती है वहां तो दया का झूठा पाखंड बताया जाता है। लोग दया विरोधी अस्त्रों, शस्त्रों एवं वस्त्रों यहां तक कई हिंसा के सबसे बड़े साधनों कृपाण (कटार) पर भी दया धर्म का मूल है लिखवा देते हैं परंतु कृपाण शब्द स्वयं ही यह प्रगट कर रहा है कि मुझमें दया कृपा नहीं है मैं तो हिंसा का साधन हूँ। गृहस्थ जीवन के क्षेत्र के कपट पूर्ण आचरणों का कहां तक वर्णन करूं। वहां तो धर्म के झंडा में लगे डंडे को शस्त्र बना कर लोग हिंसा करने लगते हैं। शास्त्र तक को लोग हिंसक शस्त्र बना लेते हैं। प्रभु की स्तुति हेतु जिस बांसुरी का प्रयोग होता है उसी बांसुरी को प्रभु के द्वारा बतायी साधना में लगे लोगों को पीटने में बांस की लकड़ी जैसा प्रयोग करने लगते हैं। क्या कहें ऐसे समय की तो बलिहारी है जिसमें उल्टे कार्य हो रहे हैं।

विशेष :– इसमें अक्षम जीवात्मा द्वारा गृहस्थी के जंजालसे निकलकर मोक्ष–मार्ग पर जाने की कामना का वर्णन है। यहाँ अनुप्रासिक और लाक्षणिक प्रयोग दर्शनीय है। भाषा सहज और बोधगम्य है।

(14)

''वसुधैव कुटुम्बकम्''
इसका आधुनिकीकरण हुआ है
वसु यानी धन–द्रव्य
धन ही कुटुम्ब बन गया है
धन ही मुकुट बन गया है जीवन का।

शब्दार्थ–वसुधा–पृथ्वी, द्रव्य–धन, यानी–अर्थात, मुकुट– भगवान के सिर पर धारण कराने का आभूषण।

संदर्भ एवं प्रसंग – प्रस्तुत पंक्तियाँ आचार्य विद्यासागर जी द्वारा रचित ''मूकमाटी'' महाकाव्य से ली गयी है। इन पंक्तियों में कवि ने लेखनी को मानवी व्यक्तित्व मानकर प्रस्तुत किया है।

व्याख्या – लेखनी आज के युग से पूछती हुई पांखडी नारों की यथार्थता बतलाती है ओर कहती है कि आज भारत देश में प्राचीन जीवनादर्श 'वसुधा ही एक कुटुम्ब है' के दर्शन नहीं होते। लोग संकीर्ण सम्प्रदायों, जातियों उपजातियों तथा क्षेत्रीयता के घेरे में बंधकर व्यवहार करते हैं। भारत देश में जहां के ऋषियों ने 'वसुधैव कुटुम्बकम्' कहा था वहां छोटी छोटी बातों पर बड़े–बड़े युद्ध (महाभारत) होने लगते हैं लोग स्वार्थ सिद्धि को जीवन में प्रथम स्थान देते हैं। लोगों ने 'वसुधैव कुटुम्बकम' का मनमाना स्वार्थी अधिग्रहण कर लिया है। स्वार्थी लोगों ने उक्त सूत्र का नया अर्थ यह लगाया है कि लोग धन द्रव्य को कुटुम्ब की तरह धारण करने लगे है। धन को ही कुटुम्ब की तरह सगा मानने लगे हैं। धन को ही जीवन का सबसे बड़ा सम्मान मानते हैं। उसे ही मुकुट की तरह अपने सिर पर धारणा करना चाहते हैं अर्थात सबसे उच्च स्थान आज धन का हो गया है।

विशेष –यहाँ लोगों द्वारा 'वसुदैव कुटुम्बकम' के मनमाने अर्थ का उल्लेख है जिसमें मानव की स्वार्थी प्रवृत्ति का बोध होता है। इसमें संस्कृत निष्ठ भाषा तथा संस्कृत सूक्ति का प्रयोग है।

(15)

''कम बलवाले ही
कम्बलवाले होते हैं और
काम के दास होते हैं।
हम बलवाले हैं
राम के दास होते हैं
और
राम के पास होते हैं।
कम्बल का सम्बल
आवश्यक नहीं हमे
सस्ती सूती–चादर का ही
आदर करते हम।
दूसरी बात यह है कि
गरम चरम वाले ही
शीत–धरम से
भय–भीत होते हैं
और नीत–करम से
विपरीत होते हैं।

मेरी प्रकृति शीत–झीला है
और
ऋतु की प्रकृति भी शीत–शीला है
दोनों में साम्य है
तभी तो अबाधित यह
चल रही अपनी मीत–लीला है।

शब्दार्थ –दास–गुलाम, सम्बल–सहारा, विपरीत–उल्टे, साम्य– समानता, अबाधित–बाधारा रहित।

संदर्भ एवं प्रसंग – प्रस्तुत गद्यांश आचार्य विद्यासागर जी द्वारा रचित ''मूकमाटी'' महाकाव्य से उद्धृत है। ठंड के मौसम में कम्बल धारण करने की सलाह देने पर संस्कार शिल्पी माटी को (मोक्ष की इच्छुक जीवात्मा को) उत्तर देता है।

व्याख्या–संस्कार शिल्पी कहता है कि कमशक्ति वाले लोग ही ठंड से बचने के लिए ऊनी वस्त्र (कम्बल) आदि सामग्री धारण करतेहैं। अधिक विलास सामग्री उपयोग करने वाले इच्छाओं के गुलाम होते हैं। अतः उन्हें विलास सामग्री की अधिक आवश्यकता होती है। जो लोग परमात्मा रूपी राम के भक्त होते हैं और परमात्मा के निकट रहते–सोते हैं, उन्हें कम्बल जैसी विलासिता की वस्तुओं की आवश्यकता नहीं होती। सस्ती सूती चादर जैसी सादा सामग्री से वे अपना जीवन निर्वाह कर लेते है। दूसरी बात यह भी है कि गर्म तासीर वाले (स्वभाव के) लोग शीतल स्वभाव वाले वातावरण से भयभीत रहते हैं। ऐसे लोगों के आचरण आत्मा के पवित्र स्वभाव से मेल नहीं खाते। उनके आचरण संसारिक भोगों की ओर होते हैं। ऐसे लोग नीति न्याय से विपरीत होते है। मेरी प्रकृति (स्वभाव) इच्छाओं के ताप से न्यून है। आत्मशांति चाहती है। आत्मशांति चाहने वालों को शीतल ऋतु इसलिए अच्छी लगती है क्योंकि दोनों में समानता होती है। इसीलिये ऋतु की शीतलता के साथ हमारी दिनचर्या किसी कष्ट या बाधा का अनुभव नहीं करती। हमारा प्रेम आत्मा के स्वाभाविक गुणों से है। अपने वास्तविक गुणों में ही हम क्षेम (लाभ) का अनुभव करते हैं। नियम भी यही कहता है कि पुरूष यदि पुरूष (आत्मा) के गुणों सें दूर का संबंध रखेगा तो उसमें मलिनता (दोष) पूरी तरह भर जायेगी। पुरूष(आत्मा) को अपने प्राकृतिक गुणों में लीन होना शाश्वत सुख दशा है। यही उसके लिए तत्व अर्थात शुद्धता का ग्रहण है। आत्मा को छोड़कर अन्य जड़ पदार्थों में राग रखना, उनके पीछे दौड़ना, उन्हें पाने की चेष्टा करना ही संसार के दुखों में भ्रमण करना है। यह अज्ञान दशा है। संसार के दुख बंधन का काररण यही अज्ञान है कि जड़ पदार्थों में सुख है। अतः उसकी इच्छा व्यक्ति करने लगताहै।

विशेष :– इसमें विलासिता की वस्तुओं के त्याग का संदेश है। जड़ पदार्थो की प्राप्ति के प्रयत्न दुखों के कारण है। यहाँ गरम–चरम, शीत–धरम, नीत–करम जैसे प्रयोग काव्योत्कर्षक हैं।

(16)

''बदले का भाव वह दल–दल है
कि जिसमें
बड़े–बड़े बैल ही क्या,
बल–शाली गज–दल तक
बुरी तरह फँस जाते हैं
ओर
गल–कपोल तक
पूरी तरह धँस जाते हैं।
बदले का भाव वह अनल है
जो
जलाता है तन को भी, चेतन को भी
भव–भव तक!
बदले का भाव वह राहु है
जिसके
सुदीर्घ विकराल गाल में
छोटा–सा कवल बन
चेतन रूप भास्वत भानु भी
अपने अस्तित्व को खो देता है
और सुनो !
बाली से बदला लेना
ठान लिया था दशानन ने
फिर क्या मिला फल ?
तन का बल मथित हुआ
मन का बल व्यथित हुआ
और
यश का बल पतित हुआ
यही हुआ ना!
त्राहि मां! त्राहि मां!! त्राहि मां!!!

यों चिल्लाता हुआ
राक्षस की ध्वनि में रो पड़ा
तभी उसका नाम
रावण पड़ा।''

शब्दार्थ –गज–दल–हाथी के समूह, गलकपोल–गले और गाल,अनला– आग, भास्वत–चमकता, भानु–सूर्य, दशानन–रावण।

संदर्भ एवं प्रसंग –प्रस्तुत पंक्तियाँ आचार्य विद्यासागर जी द्वारा रचित ''मूकमाटी'' महाकाव्य से ली गयी हैं। इन पंक्तियों में कवि ने उस दशा का वर्णन किया है जब संस्कार शिल्पी द्वारा 'माटी' को आश्रम लाने के प्रयास में घायल कांटे में(माटी का कोई घनिष्ट मित्र) के मन में शिल्पी (संस्कार शिक्षक) से प्रतिशोध लेने की भावना प्रबल हो रही है।

व्याख्या –कवि प्रतिशोध के स्वरूप का विश्लेषण प्रस्तुत करतेहुए कहता है कि पीड़ा के बदले पीड़ा देने का प्रतिशोध भाव दलदल में गिरकर स्वयं को संकट में डालने जैसा मूर्खतापूर्ण कार्य है। जिस तरह दलदल में फंस जाने पर बड़े–बड़े बैल ही नहीं हाथी भी बाहर नहीं निकल पाते और उनका कष्टमय अंत होता है क्योंकि वे गले और गाल तक पूरी तरह धँस जाते हैं। अतः सांस लेना मुश्किल हो जाता है। उसी प्रकार बदला लेने वाला नाना प्रकार के भयानक संकट में धंस जाता है। बदले का भाव उस अग्नि के समान है जिसमें पीड़ा के बदले पीड़ा देने को तत्पर प्रतिशोधी व्यक्ति शारीरिक कष्ट भी सहताहै और उसका चेतन आत्मा भी जन्मों जन्मों तक उस अग्नि में जलता है अर्थात् दुख भोगता है।

इसी प्रकार बदले का भाव उस राहू के समान है जिसके विशाल भयंकर गाल में चेतन रूप चमकता सूर्य छोटा सा कबल (कोर) बनकर अपना अस्तित्व ही खो देता है। ऐसे ही रावण ने बाली से बदला लेने का निश्चय किया किंतु उसे दुष्परिणाम भोगने पड़े। देह का बल भी नष्ट हुआ, मन का बल भी कष्ट में पड़ा और यश का बल भी गया। आखिर रक्षा करो रक्षा करो चिल्लाकर रोने लगा। तभी से उसको रावण कहा जाने लगा।

विशेष –इसमें बदले की भावना को निकृष्ट बताया गया है जिससे मनुष्य स्वयं संकट में फंसता है। यहाँ संस्कृत निष्ठ भाषा और सामाजिक पदावली का प्रयोग भावाभिव्यजंना में सहायक है।

(17)

खम्मामि, खमंतु मे–
क्षमा करता हूँ सबको,
क्षमा चाहता हूँ सबसे,
सबसे सदा–सहज बस

मैत्री रहे मेरी!
वैर किससे
क्यों और कब करूँ ?
यहाँ कोई भी तो नहीं है
संसार– भर में मेरा बैरी!

शब्दार्थ – सदा–सदैव, मैत्री–मित्रता, वैर–शत्रुता।

संदर्भ एवं प्रसंग – प्रस्तुत पंक्तियाँ आचार्य विद्यासागर जी द्वारा रचित ''मूकमाटी'' महाकाव्य से ली गयी हैं। इन पंक्तियों में उस दशा का वर्णन है जब संस्कार शिक्षक (कुंभकार) के मुख से निकली क्षमा–वाणी कांटे की प्रतिशोध भावना को समाप्त करने में सफलता प्राप्त करती है।

व्याख्या – मन की गहराई से कुंभकार क्षमा भावना भाता हुआ कांटे से कहता है कि मैं सभी प्राणियों से क्षमा चाहता हूँ। अर्थात मैं किसी को भी अपना बैरी नहीं मानता। सभी प्राणियों से सदा मेरी सहज, बिना किसी स्वार्थ के मित्रता रहे। अर्थात उनकी पीड़ा दूर करने में निमित्त बनूं। यही मेरी भावना है। इस संसार में किसी भी प्राणी से किसी भी समय बैरभाव का कोई वास्तविक कारण होता ही नहीं है। कारण यह है कि सभी के सुख–दुख किसी व्यक्ति के आधीन न होकर कर्म के आधीन है। अतः संसार भर में किसी जीव तत्व को मैं बैरी नहीं मानता। जिस तरह अभ्रक में अनेक पर्ते होती हैं उसी तरह व्यक्ति की चेतना पर भी शुभ–अशुभ भावों की पर्तें जमीं होती हैं। ऐसी अनेक पर्तों को पार कर जब शिल्पी (संस्कार शिक्षक) की क्षमावाणी कांटे (प्रतिशोधी व्यक्ति) के हृदय तक पहुंची तो उसका बैर भाव शांत हो गया।

विशेष – यहाँ जैन सिद्धांत 'खम्मामि, खमंतु मे' का समर्थन है। इसमें क्षमाशीलता और मैत्री भाव पर बल दिया गया है। भाषा शैली भावानुरूप है।

(18)

प्रकृत को ही और स्पष्ट
प्रकाशित करती –सी यह लेखनी भी
उद्यम–शीला होती है, कि
बोध के सिंचन बिना
शब्दों के पौधे ये कभी लहलहाते नहीं,
यह भी सत्य है कि
शब्दों के पौधों पर
सुगन्ध मकरन्द–भरे
बोध के फूल कभी महकते नहीं,
फिर !

संवेद्य–स्वाद्य फलों के दल
दोलायित कहाँ और कब होंगे ....?

शब्दार्थ–प्रकृत–प्राकृतिक कार्य, बोध–ज्ञान, सिंचन–सींचना, सुगन्ध– खुशबू, स्वाद्य–स्वादिष्ट, दल–समूह।

संदर्भ एवं प्रसंग – प्रस्तुत पंक्तियाँ आचार्य विद्यासागर जी द्वारा रचित ''मूकमाटी'' महाकाव्य से ली गयी हैं। इन पंक्तियों में कुंभकार (संस्कार शिक्षक) द्वारा आहत कांटे से क्षमा भाव प्रगट करने के प्रभाव का वर्णन किया गया है।

व्याख्या – कुंभकार के क्षमा–भाव प्रगट करने पर कांटे की आंतरिक चेतना पर इतना तीव्र प्रभाव पड़ा कि उसमें क्रोध के स्थान पर क्रमशः बोधभाव और उसके पश्चात शोध–भाव भी उदय में आ गए। इस प्राकृतिक कार्य व्यापार को और अधिक रूप से लेखनी भी स्पष्ट करने लगी कि शुद्ध ज्ञान जल के सिंचन का ही यह प्रभाव पड़ता है कि क्षमावाणी के शब्द रूपी पौधों पर पवित्र भावनाओं के फूल खिलने लगते हैं। कुंभकार की क्षमावाणी द्वारा कांटे की भावनाओं में भी पुण्य भाव के फूल खिल गए। लेखनी यह भी स्पष्ट करती है कि बिना सम्यक ज्ञान के मित्र शब्दों के उच्चारण में कोई प्रभाव नहीं होता। सिर्फ शब्दों में कोई सुगंधित भावनाओं के फूलों की खुशबू नहीं आती। हृदय में जब शुभ या पुण्य भाव पैदा होते हैं तो उनको प्रगट करने वाले शब्दों में दूसरों को प्रभावित करने की शक्ति होती है,अन्यथा नहीं। किन्तु मात्र बोध के फूलों को पाकर भी रूक जाना उचित नहीं क्योंकि शुभ – जीवों या पुण्य के फूल ही जब विकास क्रम को पूर्ण करते हैं तभी आत्मानुभूति या आत्मानुभव के पके फल प्राप्त होते हैं। इसी के आस्वादन की अवस्था का नाम शोध भाव या आत्मानुभूति की आनंदमयी भावदशा है। बोध अर्थात पुण्य के फूल प्राप्त होने की अवस्था में आकुलता विद्यमान रहती है। पूर्ण आनंद दशा या निराकुल दशा के फल तो शोधभाव (आत्मा की शुद्ध रूप की खोज) में ही होते हैं जिस तरह लोक में हम अनुभव करते हैं कि पेड़ में लगे फूल से पूर्ण तृप्ति या स्वाद नहीं मिलता फल के आस्वादन से ही तृप्ति मिलती है। इसी प्रकार मात्र फूल से अर्थात शुभ भाव या पुण्य–भाव से पूर्ण आनंद का अनुभव नहीं होता। पूर्ण निराकुलता का आनंद तो शोध (आत्मा की शोध) से ही होता है। अतः फूल की (पुण्य की) रक्षा करके फल विकसित करने की साधना करना चाहिए। यद्यपि पुण्य के फूल से सीमित आनंद तो मिलता है परंतु पूर्ण रसानुभूति (आत्मा का आनंद) तो शोध–भाव में है। शोधभाव आर्थात आत्मानुभूति में सुगंध रूप आंशिक सुख भी मिलता है और अनंत आनंद रूप रसदशा की भी प्राप्ति होती है।

विशेष – इसमें क्षमा भाव के प्रगट करने के प्रभाव को दर्शाया गया है। इससे बोध भाव और शोध–भाव का उदय होता है। यहाँ रूपक अलंकार के माध्यम से भावाभिव्यक्ति की गई है। भाषा संस्कृत निष्ठ है। प्रसाद गुण है।

(19)

इस पर शिल्पी कहता है कि :

''मन्त्र न ही अच्छा होता है
न ही बुरा
अच्छा, बुरा तो
अपना मन होता है
स्थिर मन ही वह
महामन्त्र होता है
और अस्थिर मन ही
पापतन्त्र स्वच्छन्द होता है,
एक सुख का सोपान है
एक दुःख का 'सो' पान है।''

शब्दार्थ – स्थिर–स्थाई, अस्थिर–विचलित, स्वच्छन्द–अनियंत्रित, सोपान–सीढ़ी।

संदर्भ एवं प्रसंग – प्रस्तुत पंक्तियाँ आचार्य विद्यासागर जी द्वारा रचित ''मूकमाटी'' महाकाव्य से ली गयी हैं। इन पंक्तियों में कुंभकार (संस्कार शिक्षक) से कांटा (मूकमाटी का एक सहचर) आत्मा के दुख निवारण का अच्छा मंत्र देने की प्रार्थना करता है।

व्याख्या – शिल्पी उत्तर देता है कि तुम दुख से स्थायी मुक्ति दिलाने वाला मंत्र मुझसे मांग रहे हो किन्तु वास्तविकता यह है कि कोई मंत्र अर्थात शिक्षा देने वाला सूक्ति– वचन अपने आप में अच्छा या बुरा नहीं होता। वास्तव में इन्द्रिय के विषय भोगों से विचलित न होने वाला मन ही महामंत्र होता है। अर्थात ऐन्द्रिक विषयों में राग या द्वेष केभाव न लाने से ही आत्मा शाश्वत सुख दशा की ओर बढ़ता है। इन्द्रिय के विषय भोगों को देखकर राग–द्वेष करने वाला मन पाप में स्वच्छ विचरण करने लगता है, और दुख की ओर बढ़ता है। मन का इन्द्रिय विषय – सामग्री से विचलित न होना सुख की ओर बढ़ने की सीढ़ी है और इन्द्रिय भोग सामग्री को देखकर अस्थिर मन होना, (राग द्वेष मय भाव, इच्छा आदि करना) दुख को भोगना है।

विशेष – यहाँ मन को महामंत्र की कोट में रखा गया है क्योंकि स्थिर मन सुखद है। भाषा सरल – सहज है। शान्त रस का समुचित प्रयोग है।

(20)

''अपने को छोड़कर
पर–पदार्थ से प्रभावित होना ही
मोह का परिणाम है
और
सब कोछोड़कर
अपने आप में भावित होना ही

मोक्ष का धाम है। ''

शब्दार्थ – पर– पदार्थ –शरीर, धनादि का ज्ञान, मोह–अज्ञान, अपने आप में भावित होना–आत्मा के गुणों में तल्लीन होना।

संदर्भ एवं प्रसंग– प्रस्तुत पंक्तियाँ आचार्य विद्यासागर जी द्वारा रचित ''मूकमाटी'' महाकाव्य से ली गयी हैं। इसमें कथा का प्रतीक पात्र संस्कार शिल्पी अन्य पात्र 'कांटे' (मूकमाटी का एक मित्र) को मोह और मोक्ष के बारे में बतला रहा है।

व्याख्या – संस्कार शिल्पी कहता है कि अपने आत्म स्वरूप को छोड़कर शरीर, मकान, धन, संपदा आदि का ज्ञान होने पर रागद्वेष की भावना या इच्छा करना मोह अज्ञान का कार्य है और इन पर–पदार्थों (आत्मा से भिन्न वस्तुओं) को छोड़कर अपनी आत्मा के गुणों में तल्लीन हो जाना ही, आत्मा के गुणों से अभिन्न हो जाना ही मोक्ष अर्थात् शाश्वत सुख–दशा को प्राप्त करना है। यही शाश्वत सुखदशा को प्रचलित कथन में मोक्ष धाम कहा जाता है।

विशेष –यहाँ मोक्षदशा और मोक्षधाम को स्पष्ट किया गया है। भाषा सरल है तथा इसमें शान्त रस विद्यमान है।

(21)

शिल्पी के शिल्पक–सांचे में
साहित्य शब्द ढलता–सा !
''हित से जो युक्त–समन्वित होता है
वह सहित माना है
और
सहित का भाव ही
साहित्य वाना है,
अर्थ यह हुआ कि
सुख का समुद्भव–सम्पादन हो
सही साहित्य वही है
अन्यथा,
सुरभि से विरहित पुष्प–सम
सुख का राहित्य है वह
सार–शून्य शब्द–झुण्ड....!
इसे, यूँ भी कहा जा सकता है
कि
शान्ति का श्वास लेता
सार्थक जीवन ही

स्रष्टा है शाश्वत साहित्य का।
इस साहित्य को
आँखें भी पढ़ सकती हैं
कान भी सुन सकते हैं
इस की सेवा हाथ भी कर सकते हैं
यह साहित्य जीवन्त है ना !''

शब्दार्थ– शिल्पी–संस्कार शिक्षक, सहित–हित सहित, सुरभि–सुगंध, झुण्ड–समूह, जीवन्त–अमर, स्रष्टा–निर्माण करने वाला।

संदर्भ एवं प्रसंग – प्रस्तुत पंक्तियाँ आचार्य विद्यासागर जी द्वारा रचित ''मूकमाटी'' महाकाव्य से ली गयी हैं। इसमें कथा का प्रतीक पात्र शिल्पी (संस्कार–शिक्षक), ''कांटे'' की साहित्य संबंधी जिज्ञासा का उत्तर देता है।

व्याख्या – कवि कहता है कि कांटे की जिज्ञासा शांत करने के लिए साहित्य शब्द संस्कार को ढालने वाले शिक्षक की वाणी में मानों आकार ग्रहण करता है। वह साहित्य शब्द की व्याख्या करते हुए कहता है कि प्राणियों के प्रति भलाई की भावनाओं को उत्पन्न करने वाली शब्द–रचना ही साहित्य मानी गई है। दूसरों की भलाई की भावनाओं को जगाने की शक्ति से संपन्न शब्दावली से ही साहित्य का बाना अर्थात आकृतिया स्वरूप बनता है। इसका अर्थ यह है कि साहित्यकार की जिस शब्द रचना को पढ़ने सुनने से सुख पहुँचाने की संवेदनाएँ उत्पन्न हों, उचित ढंग से प्रस्तुत हों सही साहित्य वही है अन्यथा साहित्य के नाम पर जो रचना प्रस्तुत की जाती है वह उसी प्रकार आनंद नहीं देती जिस प्रकार सुगंध से रहित होने पर फूल को मात्र देखना होता है। वही भीतरी आनंद नहीं देता। भलाई की भावनाएँ जिस शब्द–रचना से पैदा नहीं होती वह सार शून्य शब्दों का समूह (झुंड) ही होता है। सच्चे अर्थ में साहित्य नहीं। सच्चा साहित्य तो कल्याणकारी भावनाओं को उत्पन्न करने वाला ही होता है। शान्तिप्रद और कर्ण, अक्षि आदि इन्द्रियों को सुख देने वाला साहित्य ही अमर और शाश्वत होता है।

विशेष – इसमें साहित्य को व्याख्यायित किया गया है जिसमें परहित पर बल दिया गया है। साहित्य आनंदप्रद और हितकारी होना चाहिए। उपमालंकारका प्रयोग भावोत्कर्षक भावानुरूप भाषा शैली है।

(22)

कर्त्तव्य के क्षेत्र में
कर प्रायः कायर बनता है
और
कर माँगता है कर
वह भी खुल कर !
इतना ही नहीं,
मानवत्ता से घिर जाता है
मानवता से गिर जाता है,
इससे विपरीत शील है पाँव का
परिश्रम का कायल बना यह
पूरे का पूरा, परिश्रम कर
प्रायः घायल बनता है
और
पाँव नता से मिलता है
पावनता से खिलता है।

शब्दार्थ– कर–कर्तापन, पाँव– आचरण का प्रतीक, शील– सदाचरण, विनम्रता, पावनता–पवित्रता।

संदर्भ एवं प्रसंग –प्रस्तुत पंक्तियाँ आचार्य विद्यासागर जी द्वारा रचित ''मूकमाटी'' महाकाव्य से ली गयी हैं। यहाँ पर कर को कर्तापन भाव का प्रतीक माना गया है और पांव या चरण को आचरण का प्रतीक मानकर वर्णन किया गया है।

व्याख्या – कवि कहता है कि शिल्पी (कुंभकार) जब ''माटी'' में विनयगुण विकसित करने के लिए उसकी अहंकारी प्रवृत्तियों को कुचलने हेतु तत्पर होता है तो उसके कर (कर्तापन) का भाव मना करता है। इसका कारण यह है कि जब तक कर्तापन का अहंकार रहता है व्यक्ति कायर बना रहा है। वह कर्तापन –बुद्धि (मैंने ऐसा किया का अहंकार) के वश होकर बदले में बेशर्म होकर कुछ लेना चाहता है। यही नहीं किसी की कुछ सहायता के बदले में वह मानवता की मर्यादायें भूल जाताहै, और क्रूर होकर थोड़ी सी सहायता के बदले में उसे लूटना चाहता है। जब पाँव परिश्रम कर घायल होता है, नत होता है अर्थात मानव में शील या आचरण का उदगम होता है तब पावनता का आगमन होता है।

विशेष –इसमें कर्तापन या अहंकार का भाव त्याज्य बताया है। यहाँ लयात्मकता तथा अन्त्यानुप्रास की लय दर्शनीय है। इसमें प्रतीकात्मकता है।

(23)

''वेतन वाले वतन की ओर
कम ध्यान दे पाते हैं
और
चेतन वाले तन की ओर
कब ध्यान दे पाते हैं ?
इसीलिए तो ...
राजा का मरण वह
रण में हुआ करता है
प्रजा का रक्षण करते हुए,
और
महाराज का मरण वह
वन में हुआ करता है
ध्वजा का रक्षण करतेहुए
जिस ध्वजा की छाँव में
सारी धरती जीवित है
सानन्द सुखमय श्वास स्वीकारती हुई!''

शब्दार्थ – वतन –देश, तन–शरीर, मरण–मृत्यु, रण–युद्ध, सानन्द–आनन्द सहित।

संदर्भ एवं प्रसंग – प्रस्तुत पंक्तियाँ आचार्य विद्यासागर जी द्वारा रचित ''मूकमाटी'' महाकाव्य से ली गयी हैं। इन पंक्तियों में चेतन का मानवीकरण करके उसे एक व्यक्ति पात्र के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

व्याख्या–जब कुंभकार (संस्कार शिक्षक) 'माटी' में कोमल वृत्तियाँ विकसित करने हेतु उसकी कठोर प्रवृतियों को समाप्त करने के लिए प्रयत्नशील है तो चेतन तत्व (अंतर्आत्मा) सचेत होकर उसे बताता है कि जिनकी दृष्टि उदरपूर्ति के लिए वेतन (अर्थलाभ) पर होती है वे अपने नैतिक पतन की अवस्था पर ध्यान नहीं दे पाते। दूसरी ओर जिनकी दृष्टि चेतना प्रधान (आत्म तत्व को महत्व) होती है वे शरीर की इन्द्रियों की इच्छा पूर्ति पर ध्यान नहीं दे पाते। इसीलिए प्रजा की रक्षा के मुख्य कर्तव्य मानने वाला राजा प्रजा की रक्षा करने के लिए रण मे प्राणों का बलिदान कर देता है। दूसरी ओर संत महात्मा आत्मधर्म का कठोर तप करते हुए वन में मरण करते हैं। जिस धर्म की शक्ति से धरती के प्राणी जीवित हैं जिस अहिंसा धर्म का आश्रय पाकर प्राणी सुखमय जीवन की सांस लेते हैं, उस अहिंसा, धर्म की रक्षा करतेहुए वे अंतिम सांस लेते हैं।

विशेष – इसमें संस्कार शिक्षक द्वारा माटी की कठोर प्रवृत्तियों को समाप्त करने तथा कोमल वृत्तियों को विकसित करने का प्रयास वर्णित है। भाषा सहज और सरल है तथा मानवीकरण अलंकार का सुन्दर प्रयोग है।

(24)

अर्थ और परमार्थ की सूक्ष्मता
कुछ और उजालें में लाई जाती है,
''अन्तिम भाग, बाल का भार भी
जिस तुला में तुलता है
वह कोयले की तुला नहीं साधारण–सी
सोने की तुला कहलाती है असाधारण !
सोना तो तुलता है
सो....अतुलनीय नहीं है
और
तुला कभी तुलती नहीं है
सो....अतुलनीय रही है
परमार्थ तुलता नहीं कभी
अर्थ की तुला में
अर्थ को तुला बनाना
अर्थशास्त्र का अर्थ नहीं जानना है
और सभी अनर्थों के गर्त में
युग को ढकेलना है।
अर्थशास्त्री को क्या ज्ञात है यह अर्थ ?''

शब्दार्थ – अर्थ–धन, तुला–तराजू, अनर्थों–बुराइयों, गर्त–गड्ढें।

संदर्भ एवं प्रसंग –– प्रस्तुत पंक्तियाँ आचार्य विद्यासागर जी द्वारा रचित ''मूकमाटी'' महाकाव्य से ली गयी हैं। इन पंक्तियों में शिल्पी (संस्कार शिक्षक) के अर्थ (धन) और परमार्थ (आत्मा का प्रयोजन) के संबंध में विचार प्रस्तुत कर रहा है।

व्याख्या– वह कहता है कि सोने को तोलने वाली तुला अतुलनीय कहलाती है। वह बाल के हल्के भार को भी बतला देती है। इसीलिए कोयला तोलने वाली तुला साधारण तुलाकहलाती है और सोना तोलने वाली तुला को लोग असाधारण तुला कहते हैं। चूंकि सोना तुलता है अतः तोलने योग्य वस्तु ही कहलाती हे। तुला तोलती है, अतः अतुलनीय कहलाती है। इसी प्रकार

परमार्थ (आत्म–पर–कल्याण) ही मूल्याकंन का आधार हो सकता है। इसका मूल्यांकन धन की तराजू पर नहीं किया जा सकता। फिर भी संसार के लोग परमार्थ का मूल्याकंन धन या अर्थ की तराजू में तोलकर करते हैं, यह अज्ञान है। अर्थ को तराजू बनाकर हर चीज को (परमार्थ को भी) तोलना अर्थशास्त्र का सही अर्थ नहीं जानना है। लौकिक वस्तुओं का मूल्यांकन तो अर्थ धन) के आधार पर हो सकता है किंतु परमार्थ आत्मा, मोक्ष के साधनों को धन की तराजू पर तोलने की प्रथा युग के लोगों को विनाशकारी (अनर्थों) पापों–अपराधों की ओर ले जाना है। आज के अर्थशास्त्री को यह बात जानना आवश्यक है लेकिन दुख की बात है कि आज के अर्थशास्त्री परमार्थ का मूल्याकंन भी धन के आधार पर करते हैं।

विशेष – यहाँशिल्पी कीदृष्टि में अर्थ और परमार्थ के भाव को स्पष्ट किया गया है।इसमें भाव गाम्भीर्य एवं प्रतीकात्मकता है। उपदेशात्मक शैली दर्शनीय है।

(25)

''परस्पर कलह हुआ तुम लोगों में
बहुत हुआ, वह गलत हुआ।
मिटाने–मिटने को क्यों तुले हो
इतने सयाने हो !
जुटे हो प्रलय कराने
विष से धुले हो तुम!
इस घटना से बुरी तरह
माँ घायल हो चुकी है
जीवन को मत रण बनाओ
प्रकृति माँ का वृण सुखाओ!
सदय बनो!
अदय पर दया करो
अभय बनो!
सभय पर किया करो अमय की
अमृत–मय वृष्टि
सदा सदा सदाशय दृष्टि
रे जिया, समष्टि जिया करो !
जीवन को मत रण बनाओ
प्रकृति माँ का ऋण चुकाओ !
अपना ही न अंकन हो

पर का भी मूल्याकंन हो,
पर, इस बात पर भी ध्यान रहे
पर की कभी न वाँछन हो
पर पर कभी न लांछन हो !
जीवन को मत रण बनाओ
प्रकृति माँ का न मन दुखाओ !

शब्दार्थ – कलह–झगड़ा, सयाने–होशियार, वृण–घाव, वृष्टि–वर्षा, वाँछन–इच्छा, लांछन–बुराई निकालना, रण–युद्ध।

संदर्भ एवं प्रसंग– प्रस्तुत पंक्तियाँ आचार्य विद्यासागर जी द्वारा रचित ''मूकमाटी'' महाकाव्य से ली गयी हैं। इन पंक्तियों में करूणा को मानवीकृत रूप में एक व्यक्ति की तरह संदेश देते बताया गया है।

व्याख्या – करूणा प्रकट होकर श्रृंगार को प्यार से गाल पर चाँट लगाते हुए समझाती है और उसी क्रम में जगती के कण–कण को समझाते हुए कहती है कि अरे संसार के लोगो परस्पर कलह करकेतुम संसार का दुख बढ़ा रहे हो। तुम समझदार होकर भी संसार का विनाश करने का प्रयत्न क्यों कर रहे हो। लगता है तुम्हारा स्वभाव विषयमय हो गया है। प्रकृति मां तुम्हारे विनाशकारी क्रियाकलाप देखकर दुखी–हृदय हो गई है। तुम जीवन को व्यर्थ ही रणभूमि की तरह एक दूसरे के लिए प्राणघाती बना रहे हो। तुम्हारा कर्तव्य तो प्रकृति मां के दुख के घावों को ठीक करना है। इसके लिए तुम्हे दयावान, निर्भीक बनना होगा। जो लोग दुख से डरे हुए हैं उन्हें अभय बनाने वाली रक्षा का भरोसा देना होगा। दूसरों को सुरक्षा का विश्वास देना अमृत वर्षा के समान आनंद दायी है। सदैव दूसरों की भलाई का दृष्टिकोण धारण करो। तुम सभी जीव तत्व को धारण करते हो, अतः हे प्राणियों ! सबकी भलाई के साथ जीवन जीना ही उचित है। इस तरह के कार्य नहीं करो जिससे जीवन रणभूमि (एक दूसरे के प्राण लेने वाला) बन जाये। प्रकृति मां का ऋण चुकाने का यही तरीका है कि सिर्फ अपना ही महत्व अंकित मत करो। दूसरे के गुणों को भी सम्मान की दृष्टि से देखो। इस बात का ध्यान रहे कि पर की भलाई के समय उससे किसी स्वार्थ पूर्ति की इच्छा न रखो। पर के दोषों को उछालना लांछन लगाना भी उचित नहीं। जीवन को रण की तरह घातक बनाना व्यर्थ है। इससे प्रकृति माँ का मन दुखी होगा। आत्म–पर कल्याण के कार्य ही करणीय हैं।

विशेष – यहाँ करूणा की महत्ता दर्शायी गयी है। दयावान निर्भीक, परोपकारी बनने का संदेश है करूण रस और अलंकारिक प्रयोग अनूठा है।

(26)

करूणा–रस उसे माना है, जो
कठिनतम पाषाण को भी
मोम बना देता है,
वात्सल्य का बाना है
जघनतम नादान को भी
सोम बना देता है।
किन्तु, यह लौकिक
चमत्कार की बात हुई,
शान्त–रस का क्या कहें,
संयम–रत धीमान को ही
'ओम्' बना देता है।
जहाँ तक शान्त रस की बात है
वह आत्मसात करने की ही है
कम शब्दों में
निषेध–मुख से कहूँ
सब रसों का अन्त होना ही–
शान्त–रस है।
यूँ गुनगुनाता रहता
सन्तों का भी अन्तः प्रवाह वह।
....धन्य !

शब्दार्थ – पाषाण – पत्थर, नादान – अज्ञानी, सोम – चन्द्रमा, ओम – परमात्मा, लौकिक – सांसारिक, धीमान – बुद्धिमान।

संदर्भ एवं प्रसंग – प्रस्तुत पंक्तियाँ आचार्य विद्यासागर जी द्वारा रचित ''मूकमाटी'' महाकाव्य से ली गयी है। इन पंक्तियों में आत्मा की शाश्वत दुख दशा में करूणा, वात्सल्य और शांत रस की भूमिकाओं पर तुलनात्मक दृष्टि डाली गई है।

व्याख्या –कवि के अनुसार करूण–रस उसे माना है जिसके प्रभाव से पत्थर की तरह कठोर दिलवाला व्यक्ति किसी के दुख को देखकर स्वयं भी दुखी हो जाता है। जिस तरह मोम नर्म होता है ताप की उपस्थिति में पिघल जाता है, उसी तरह किसी के दुख को देखकर करूणा के प्रभाव से पत्थर दिल इंसान भी नर्म स्वभाव का होकर करूणामय होकर दुख में बहने लगता है। वात्सल्य भाव का स्वभाव है कि इसके प्रभाव से अज्ञानी क्रूर व्यक्ति ज्ञानवान व चन्द्रमा की तरह शीतल स्वभाव का हो जाता है। किन्तु शांत–रस की महिमा का क्या वर्णन

करें। इस शांत रस के प्रभाव से संयम का पालन करने वाला बुद्धिमान ओम (परमात्मा) शाश्वत सुख–दशा प्राप्त जीव हो जाता है। कवि के दृष्टि में सब रसों का अन्त ही शान्त रस है। अतः सर्वोच्च है। संतों के अन्तःकरण भी यही ध्वनि निकलती है।

विशेष – यहां करूण, वात्सल्य और शान्त रस की व्याख्या की गई है किंतु शान्त रस सर्वोच्च बताया गया है। संस्कृत निष्ठ भाषा तथा प्रतीकात्मक प्रयोग विशिष्ट हैं।

(27)

हाँ, हाँ !तुम्हें जो चक्कर आ रहा है
उसका कारण कुलाल–चक्र नहीं,
वरन्
तुम्हारी दृष्टि का अपराध है वह
क्योंकि
परिधि की ओर देखने से
चेतन का पतन होता है
और
परम–केन्द्र की ओर देखने से
चेतन का जतन होता है।
परिधि में भ्रमण होता है
जीवन यूँ ही गुजर जाता है,
केन्द्र में रमण होता है
जीवन सुखी नजर आता है।
और सुनो,
यह एक साधारण–सी बात है कि
चक्करदार पथ ही, आखिर
गगन चूमता
अगम्य पर्वत–शिखर तक
पथिक को पहुँचाता है
बाधा–बिन बेशक !''

शब्दार्थ – कुलाल चक्र– धार्मिक क्रियाओं का चक्र, अपराध–दोष, जतन–उपाय, पथ–मार्ग, शिखर–चोटी, पथिक–राहगीर।

संदर्भ एवं प्रसंग –प्रस्तुत पंक्तियाँ आचार्य विद्यासागर जी द्वारा रचित ''मूकमाटी'' महाकाव्य से ली गयी हैं। इन पंक्तियों में उस समय का वर्णन है जब ''माटी'' (मोक्ष का इच्छुक जीव) को शिल्पकार (संस्कार शिक्षक सद्गृहस्थ) संयम की आकृति बनाने वाले चक्र (नियमित जीवन

चर्या) पर रखता है और वह कुछ बैचेनी अनुभव करता है।

व्याख्या – ''माटी'' को धैर्य बंधाते हुए संस्कार शिक्षक (शिल्पकार) समझाता है कि तुम्हें जो बैचेनी का अनुभव हो रहा है उसका कारण धार्मिक क्रियाओं का चक्र नहीं है वरन् दृष्टि की कमजोरी है। दृष्टि यदि धर्मचक्र (आत्मा) के बाहर की ओर होती है तो धर्म–चक्र (धर्म साधना के नियम) पर आसीन जीव को दुख–अनुभव होता है। यदि दृष्टि धार्मिक क्रियाओं के केन्द्र आत्म तत्व पर होती है तो चेतन आत्मा को अपने दुख–बंधन कांटने के उपायों की प्राप्ति का आनंद आता है। यदि जीवन आत्मा से बाहर दृष्टि रखकर बीतता है तो दुखमय होता है और आत्मा की ओर दृष्टि एकाग्र हो जाती है, तो सुख की स्थायी दशा की प्राप्ति की उम्मीद हो जाती है।निःसंदेह कष्टमय मार्ग परम लक्ष्य तक ले जाता है।

विशेष : इसमें संस्कार शिक्षक द्वारा मोक्ष के इच्छुक जीव माटी को दृष्टि की कमजोरी का बोध कराया गया है। शान्त रस एवं भावानुकूल भाषा है।

(28)

रहस्य के घूँघट का उद्घाटन
पुरूषार्थ के हाथ में है
रहस्य को सूँघने की कड़ी प्यास
उसे ही लगती है जो भोक्ता
संवेदन–शील होता है,
यह काल का कार्य नहीं है,
जिसके निकट–पास
करण यानी कर नहीं होता है
वह पर का कुछ न करता, न कराता।
जिसके पास
चरण–चर नहीं होता है
वह स्वयं न चलता पग भर भी
न ही चलाता पर को।
काल निष्क्रिय है ना !
क्रय–विक्रय से परे है वह।
अनन्त–काल से काल
एक ही स्थान पर आसीन है
पर के प्रति उदासीन.....!
तथापि
इस भाँति काल का उपस्थित रहना

यहाँ पर
प्रत्येक कार्य के लिए अनिवार्य है, परस्पर यह
निमित्त–नैमित्तिक संबंध जो रहा।

शब्दार्थ – भोक्ता–भोग करने वाला, निष्क्रिय–क्रियाहीन, क्रय–विक्रय –रखीदना–बेचना, निमित्त – सहायक कारण।

संदर्भ एवं प्रसंग –प्रस्तुत पंक्तियाँ आचार्य विद्यासागर जी द्वारा रचित ''मूकमाटी'' महाकाव्य से ली गयी हैं। इन पंक्तियों में कवि ने व्यक्तित्व के विकास में काल द्रव्य के तटस्थ रहते हुए उपस्थित रहने का दिग्दर्शन कराया है।

व्याख्या – कवि कहता है कि जिस काल द्रव्य के पास इन्द्रियाँ रूपी कर ही नहीं वह किसी अन्य का विकास या अवनति का कार्य नहीं करताहै। काल द्रव्य गति विहीन है। अतः वह किसी अन्य की गति में भी सहायक या विरोधी नहीं है वह न स्वयं चलता है न किसी जीव को चलाता है क्योंकि वह निष्क्रिय द्रव्य है। काल द्रव्य को न कोई खरीद सकता है न विक्रय हो सकता है। अनंतकाल से काल न आगे जाता है न पीछे। वह एक ही स्थान पर आसीन है। दूसरे द्रव्य से उसे कोई लेना देना नहीं है। वह उदासीन (तटस्थ)द्रव्य है तो भी अन्य द्रव्य के कार्यों के लिए उसका उपस्थित रहना अनिवार्य है। वह निमित्त साधन है, अर्थात सहायक कारण माना गया है।

विशेष – इस पद्यांश में काल, द्रव्य से तटस्थ रहने पर ही व्यक्तित्व के निकास की गति का उल्लेख है। इसमें शान्त रस एवं अनुप्रासिंक प्रयोग भावोत्कर्षक है।

(29)

'ही' के आस–पास
बढ़ती–सी भीड़ लगती अवश्य,
किन्तु भीड़ नहीं,
'भी' लोकतंत्र की रीढ़ है।
लोक में लोकतन्त्र का नीड़
तब तक सुरक्षित रहेगा
जब जक 'भी' श्वास लेता रहेगा।
'भी' से स्वच्छन्दता–मदान्धता मिटती है
स्वतन्त्रता के स्वप्न साकार होते हैं,
सद्विचार सदाचार के बीज
'भी' में हैं, 'ही' में नहीं।
प्रभु से प्रार्थना है, कि
'ही' से हीन हो जगत् यह

अभी हो या कभी भी हो
'भी' से भेंट सभी की हो।

शब्दार्थ – नीड़–घोसला, सदाचार–सद आचरण, हीन–रहित, मदान्धता–मद में अंधा होना।

संदर्भ एवं प्रसंग – प्रस्तुत पंक्तियाँ आचार्य विद्यासागर द्वारा रचित महाकाव्य ''मूकमाटी'' से ली गयी हैं। इन पंक्तियों में कवि ने 'ही' और 'भी' बीजाक्षरों (मंत्र की तरह गूढ़ अर्थ का प्रतिपादन करने वाले अक्षर) के माध्यम से एकांतवादी विचार दृष्टि और अनेकान्तवादी विचार दृष्टियों का परिचय कराया है।

व्याख्या – कवि कहता है कि 'ही' (एकांतवादी विचार) के पास कभी–कभी भीड़ इकट्ठी दिखायी देती है परंतु इसे वास्तविक बहुमत का समर्थन नहीं कह सकते। वह समर्थकों की भीड़ ऊपरी दिखावा है। उनका समर्थन भी स्वार्थ या भय के कारण अस्थायी होता है। वस्तुतः लोकतंत्र को रीढ़ की हड्डी की तरह सीधा और मजबूत बनाने वाली विचार दृष्टि ''भी'' (अन्य की विचार दृष्टियों को सम्मान देने वाली दृष्टि) है। लोक में यदि लोकतंत्र को सुरक्षित रखना है तो इसके लिए दूसरों के द्वारा बताये सत्य को भी महत्व देना होगा। अन्य लोगों के मत (भी) को अपनाने से व्यक्ति में मनमानेपन व शक्ति के अहंकार घमंड की प्रवृति मिटती है। अन्य लोगों को भी स्वतंत्रता से सोचने और अपना मत रखने, उसे सम्मान दिलाने की इच्छाओं की पूर्ति होती है। अन्य विचार दृष्टियों के आदर–समन्वय से सद्विचार और सद्आचरण पैदा होते हैं। एकान्तवादी अर्थात् किसी मत विशेष को पूर्ण सत्य एकमात्र सत्य मानने का हठ घमंड और दूसरों को दबाने की इच्छा समाज में विघटन पैदा करती है। अतः प्रभु से प्रार्थना है कि जगत के लोगों में 'मैं ही सच हूँ' का हठ समाप्त हो तथा अन्य के मतों का सार–समन्वय की प्रवृत्ति से सभी की भेंट हो।

विशेष –यहाँ 'ही' और 'भी' के गूढ़ अर्थ को स्पष्ट किया गया है। इससे एकान्तवादी और अनेकान्तवादी विचार दृष्टियों का बोध कराया गया है। इसमें प्रतीक–विधान काव्योत्कर्षक है।

(30)

कुम्भ के मुखमण्डल पर
'ही' और 'भी' इन दो अक्षरों का।
ये दोनों बीजाक्षर हैं,
अपने–अपने दर्शन का प्रतिनिधित्व करते हैं।
'ही' एकान्तवाद का समर्थक है
'भी' अनेकान्त, स्याद्वाद का प्रतीक।
हम ही सब कुछ हैं
यूँ कहता है 'ही' सदा,
तुम तो तुच्छ, कुछ नहीं हो !

और
'भी' का कहना है कि
हम भी हैं
तुम भी हो
सब कुछ!
'ही' देखता है हीनदृष्टि से पर को
'भी' देखता है समीचीन दृष्टि से सब को,
'ही' वस्तु की शक्ल को ही पकड़ता है
'भी' वस्तु के भीतरी–भाग को भी छूता है।

शब्दार्थ –कुम्भ–घड़ा, या संस्कार शिक्षक, एकान्तवाद–एकांगी दृष्टि, अनेकान्तवाद–अन्य दृष्टि, हीनदृष्टि– तुच्छ दृष्टि।

संदर्भ एवंप्रसंग–प्रस्तुत पंक्तियाँ आचार्य विद्यासागर द्वारा रचित महाकाव्य ''मूकमाटी'' से ली गयी हैं। इन पंक्तियों में संस्कार शिक्षक (कुंभकार) द्वारा माटी के कुंभ (संयमी आकृति प्राप्त मोक्षार्थी शिष्य) के व्यक्तित्व में अंकित बीजाक्षर 'ही' और 'भी' के माध्यम से एकान्तवादी विचार प्रणाली के दोष तथा अनेकान्त वादी विचार प्रणाली के गुणों को स्पष्ट किया गया है।

व्याख्या – कवि वर्णन करता है कि शिल्पी (गुरू) ने माटी के कुंभ में 'ही' और 'भी' के संस्कार दिये हैं। इनमें 'ही' एकान्तवाद अर्थात् वस्तु को एकांगी दृष्टि से देखने से होने वाली हानियों से परिचित कराया है। दूसरी ओर 'भी' अर्थात् अनेक पहलुओं से वस्तु तत्व पर विचार करने के लाभ भी समझा दिये हैं। गुरू के मत में एकांतवादी विचार दृष्टि वाला व्यक्ति बौद्धिक रूप से घमंडी हो जाता है, और किसी एक पक्ष (दृष्टिकोण) से जाने गए तथ्यों को ही सब कुछ समझता है। वह दूसरों को तुच्छ समझता है और उनके दृष्टिकोण से जाने गये स्वरूप को झूठा कहकर उपेक्षा करता है। 'भी' की विचारधारा अर्थात् अपने दृष्टिकोणसे देखे गए वस्तु स्वरूप की जानकारी के साथ दूसरे के दृष्टिकोण से देखने वालों के अभिमत को भी सम्मान पूर्वक स्वीकृति देता है। वह दूसरों को तुच्छ या मूर्ख नहीं समझता। उनके मत का अनादर भी नहीं करता। हमारा मत किसी दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण है तो अन्य का मत भी आदरणीय है। 'ही' अर्थात एकांतवादी (एक दृष्टिकोण से जाने गए वस्तुस्वरूप की जानकारी) अन्य व्यक्ति और उसके मत का अनादर करता है, अस्वीकृत करता हैं जब कि 'भी' अर्थात् अन्य दृष्टि से देखे गये सत्यांश को भी स्वीकृत करता है। वह उन सभी के मतों को भी उनके दृष्टिकोण से प्राप्त सत्यांश मानता है। 'ही' वस्तु व स्वरूप के बारे में ऊपरी अर्थात सीमित वस्तु को ही पूर्ण सत्य मानता है जबकि 'भी' अर्थात् अन्य दृष्टियों से जानी गई वस्तु स्वरूप की जानकारियों को बाहर से भीतर तक विराट रूप में जानता है।

विशेष – यहाँ एकान्तवादी प्रणाली के दोष और अनेकान्तवादी प्रणाली के गुणों को उदघाटित किया गया है। भाषा सहज और प्रवाह पूर्ण, खड़ी बोली है।

(31)

'कर पर कर दो'
कुम्भ पर लिखित पंक्ति से ज्ञात होता है, कि
हमारे धवलिम भविष्य हेतु
प्रभु की यह आज्ञा है किः
'कहाँ बैठे हो तुम श्वास खोते
सही–सही उद्यम करो
पाप–पाखण्ड से परे हो
कर पर कर दो
बच जाओगे।
अन्यथा
मेल में अन्ध हो
जेल में बन्द हो
पच पाओगे....!'

शब्दार्थ – धवलिम–उज्जवल, उद्यम–उद्योग, पाखण्ड–दिखावा, मेल–मिलावट।

संदर्भ एवं प्रसंग – प्रस्तुत पंक्तियाँ आचार्य विद्यासागर द्वारा रचित महाकाव्य ''मूकमाटी'' से ली गयी हैं। इन पंक्तियों में माटी के कच्चे कुंभ (संयम का प्राथमिक शिक्षण प्राप्त शिष्य) को दिये गए संस्कार 'कर पर कर दो' को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है।

व्याख्या – कवि विद्या सागर जी कहते हैं कि कुंभ (संयम को प्राथमिक नियम) लेने वाले शिष्य को गुरू ने यह संस्कार दिया है कि अपने चिन्तन से अहंकार को हटा दो। यह अहंकार कर्तापन के भाव अर्थात् मैं किसी अन्यवस्तु के कार्य व्यापारों का संचालक हूँ, ऐसी अहं बुद्धि का त्याग कर दो। कवि के अनुसार किसी भी व्यक्ति का उज्ज्वल भविष्य तभी बन सकता है। जब वह कर्तापन के अहंकार से मुक्त हो जायेगा। मैं पर वस्तु के कार्य व्यापारों का संचालक हूँ। ऐसी अहंकारी बुद्धि आत्मा विकास में बाधक है। दूसरों के कार्य व्यापारों का मैं कर्ता हूँ ऐसी बुद्धि रखने वाला व्यक्ति अपनी शक्ति और पुरूषार्थ को गलत इस्तेमाल करता है। सही कोशिश करना उसे ही कहा जाता है जब अहंकार असत्य आदि पाखंड की धारणाओं को व्यक्ति त्याग देगा। यदि व्यक्ति 'मैं किसी अन्य द्रव्य का कर्ता हूँ इस अभियान को त्याग देगा तो ऐसा व्यक्ति दुख के बंधन से बच जायेगा, अन्यथा सत्य–असत्य की मिलावट में उसका चिन्तन अंधा होकर उसी तरह बंद हो जायेगा जिस तरह जेल में बंद व्यक्ति कोई कार्य अपनी

इच्छा से नहीं कर पाता, उसी तरह कर्तापन का अहंकार रखने वाला व्यक्ति भी स्वतंत्र निर्णय लेकर कोई कार्य नहीं कर पाता।

विशेष – यहाँ कर पर कर 'दो' को स्पष्ट किया गया है। इसमें कवि ने कर्तापन के अहंकार के त्याग को सुखद माना है। सहज–सरल भाषा एवं उपदेशात्मक शैली का प्रयोग है।

(32)

'मर हम मरहम बने'
इन यह चार शब्दों की कविता भी मिलती है
यहीं, कुम्भ पर !
आशय इसका यही हो सकता है कि
कितना कठिनतम
पाषाण–जीवन रहा हमारा !
ठोकर खा गये इस से
रूक गये, गिर गये।
पथ को छोड़कर
फिर गये कितने!
फिर
कितने पद लहूलुहान हो गये,
कितने गहरे घाव–दार बन गये वे !
समुचित उपचार कहाँ हुआ उनका,
होता भी कैसे पापी पाषाण से ...।
उपचार का विचार भर
उभरा इसमें आज!
यह भी सुभगता का संकेत है
इससे आगे पद बढ़ना सम्भव नहीं।
प्रभो !यही प्रार्थना है पतित पापी की,
कि
इस जीवन में नहीं सही
अगली पर्यारू में.... तो
मर, हम 'मरहम' बने.....।

शब्दार्थ– पाषाण–पत्थर, पथ–मार्ग, लहूलुहान–रक्तरंजित, सुभगता–अच्छाई, पर्यारू–जीवन।

संदर्भ एवं प्रसंग–प्रस्तुत पंक्तियाँ आचार्य विद्यासागर द्वारा रचित महाकाव्य ''मूकमाटी'' से ली गयी हैं। इन पंक्तियों में कवि ने कुंभकार (संस्कार शिक्षक) द्वारा कुंभ (मोक्ष के इच्छुक शिष्य)

पर अंकित पंक्ति 'मर हम मरहम बने' के आशय को स्पष्ट करते हुए यह प्रतिपादित किया है जीवन की सार्थकता दूसरों के दुख दूर करने में है।

व्याख्या – कवि वर्णन करता है कि संस्कार शिक्षक ने शिष्य (कुंभ) में ऐसे संस्कार अंकित कर दिये हैं कि वह अगले जन्म में भी दूसरों के दुख दूर करने का साधन बनना चाहता है। वह प्रभु से भावना भाता है कि अब तक का हमारा जीवन कठोर पाषाण की तरह दूसरों के दुख दर्दों को देखकर प्रभावित न होने वाला रहा है। इतना ही नहीं हमारे संपर्क में आने वाले जीवन रूपी यात्रा के पथिक (प्राणी) जब हमारे संपर्क में आये तो हमारे द्वारा उन्हें दुख ही मिला। हमारे निमित्त से उनका जीवन उत्थान के बजाय पतित हो गया। कितने ही लोग हमारे संपर्क से गलत रास्ते पर चले गए। उन्हें सुख शांति प्राप्ति का सही मार्गदर्शन नहीं मिल सका। कितने ही प्राणी हमारे द्वारा अत्यन्त दुखी अवस्था में चले गए। कितने प्राणियों की हमारे द्वारा मानसिक वेदनाएँ बढ़ गयी। हमारे जीवन से उनके दुख कम नहीं हुए क्योंकि हमारे पास पाप मय प्रवृतियाँ हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील आदि अधिक थीं। आज भी हमें दुख के कारणों का विचार आया है, इच्छा जगी है। इससे बहुत लाभ तो नहीं किन्तु यह संकेत अवश्य मिलता है उन्नति संभव है। पर अभी इतनी भावना आगे बढ़ने के लिये पर्याप्त नहीं। अतः भगवान से यही भावना भाता हूँ कि मरकर हमारा अगला जीवन दूसरों की पीड़ा दूर करने के योग्य बनें।

विशेष – यहाँ कुंभ (मोक्ष के इच्छुक शिष्य) में विकसित सद्‌गुणों का उल्लेख किया गयाहै जो दूसरे जन्म में पर पीड़ाहारी बनना चाहता है। इसमें शाब्दिक चमत्कार, लाक्षणिक प्रयोग द्रष्टव्य है।

(33)

''मैं दो गला''

इससे पहला भाव यह निकलता है कि
मैं द्विभाषी हूँ
बहार से कुछ और.....
पथ में विष घोलता हूँ
अब इसका दूसरा भाव सामने आता है,
मैं
दौगला
छली, धूर्त, मायावी हूँ
अज्ञान – मान के कारण ही
इस छद्म को छुपाता आया हूँ
यूँ, इस कटु सत्य को,

सब हितैषी तुम भी स्वीकारो
अपना हित किसमें है ?
इसका तीसरा भाव क्या है
पूछने की आवश्यकता है ?
सब विभावों–विकारों की जड़
'मैं' यानी अहं को
दो गला–कर दो समाप्त।

शब्दार्थ –पय–दूध, छद्म –दूषित इच्छायें, कटु–कडवा, हितैषी–हित चाहने वाला, विभावों–विकारों–अशुद्ध भावों।

संदर्भ एवं प्रसंग –प्रस्तुत पंक्तियाँ आचार्य विद्यासागर द्वारा रचित महाकाव्य ''मूकमाटी'' से ली गयी है। इन पंक्तियों में कवि ने कुंभकार (संस्कार शिक्षक) के द्वारा कुंभ (शाश्वत सुख का आकांक्षी शिष्य) पर अंकित कविता 'मैं दो गला' के आशय को स्पष्ट किया है।

व्याख्या – कवि कहता है कि संस्कार शिक्षक (कुंभकार) ने अपने शिष्य (कुंभ) को यह संदेश दिया है कि मैं (अहंकार) अर्थात् अपने को पर का कर्ता (करने वाला) मानने का अहंकार गवा देना (दूर करना) चाहिए। अहंकार के कारण व्यक्ति दो तरह की बातें करने लगा। उसकी भीतरी भावनाएँ तो दूषित हैं। वह अन्य प्राणियों का बुरा चाहता है किन्तु ऊपर से धोखा देने के लिए मधुर वाणी बोलताहै। इस तरह वह अपने और दूसरों के जीवन रूपी अमृत में विष घोलता है। उसे दुखदायी बनाता है। मैं दोगला से यह आशय भी निकलता है किव्यक्ति का व्यक्तित्व छली, धूर्त और मायावी हो गया है। उसके मन में इन्द्रिय – सुख– सामग्री संचित करने का लोभ है। इसके लिए वह दूसरों की सुविधाएँ भी छीनना चाहता है परन्तु वह मन की दूषित इच्छाओं को छुपाता है। इसे कड़वी लगने वाली सच्चाई को सबको स्वीकार करना चाहिए कि लगभग सभी संसारी प्राणियों मेंयह कलुषता विद्यमान है। किन्तु यह भी सोचो कि अपना लाभ दोगला (छली कपटी) बने रहने में है या कि ईमानदार, निश्छल बनने में है। तीसरा आशय 'मैं दो गला' का यह भी निकलता है कि आत्मा के अशुद्ध भावों की जड़ अहंकार बुद्धि है अर्थात वह जड़ पदार्थों को शरीर, परिवार, धन धान्य को अपना स्वरूप मानता है – इस मान्यता को त्यागे वगैर शाश्वत सुख दशा प्राप्त नहीं हो सकती।

विशेष – यहाँ 'दो गला' के अर्थ को स्पष्ट करते हुए मानव की दूषित प्रवृत्तियो को उजागर किया गयाहै। इनका त्याग ही शाश्वत सुख का मार्ग है। भाषा खड़ी बोली एवं प्रतीकात्मक शैली का प्रयोग।

(34)

कुंभ में जलीय अंश शेष है अभी

निश्शेष करना है उसे
और
तपी हुई खुली धरती पर
कुंभ को रखता है कुंभकार।
बिना तप के जलत्व का, अज्ञान का,
विलय हो नहीं सकता
और
बिना तप के जलत्व का, वर्षा का,
उदय हो नहीं सकता
तप के अभाव में ही
तपता रहा है अन्तर्मन यह
अनल्प संकल्प–विकल्पों से, कल्पकालों से।

शब्दार्थ– जलीय अंश–विषयासक्ति, निःशेष–समाप्त, विलय– सूखना, कल्प–कालों।

संदर्भ एवं प्रसंग –प्रस्तुत पंक्तियाँ आचार्य विद्यासागर द्वारा रचित महाकाव्य ''मूकमाटी'' से ली गयी हैं। इन पंक्तियों में कुंभकार (संस्कार शिक्षक) के उस संकल्प का वर्णन है जिसमें वह कुंभ (शाश्वत सुख की इच्छुक जीवात्मा) में उपस्थित जलीय अंश (विषयासक्ति) को समाप्त करने की तैयारी कर रहा है।

व्याख्या – कवि वर्णन करता है कि कुंभकार (संस्कार शिक्षक) यह सोचकर कि कुंभ (शिष्य) में अभी जलीय अंश (अज्ञान) शेष है अर्थात उसमें लौकिक कामनाएँ बहुत हैं, अतः उन्हें हटाना है। इसके लिये वह कुंभ को अपने परिसर की तपी खुली धरती पर रखता है अर्थात् ऐसा वातावरण प्रदान करता है जिससे उसकी लौकिक कामनाओं का जल सूख जाय। बिना तप के नियमों का आश्रय लिए लौकिक इच्छाओं का जल (मिथ्या ज्ञान) नहीं सूखता। बिना तप–नियमों का आश्रय लिए सम्यक ज्ञान (आत्मज्ञान) की वर्षा संभव नहीं। वास्तव में तप नियमों का पालन न होने से ही अब तक का जीवन, भीतरी मन दुख झेलता रहा है। इस दुखी अवस्था से गुजरते हुए इस जीव को कल्प–कालों से अनगिनत दुख झेलना पड़ रहे हैं। इन दुखों को दूर करने के लिए अब तक जो भी उपाय किय गए हैं उन्हें किस प्रकार वर्णन करें। बस यही कह सकता हूँ कि उपाय के नाम पर सफलता की कोरी बात मिली वास्तविक सफलता अभी तक नहीं मिली।

विशेष – यहाँ संस्कार शिक्षक द्वारा शिष्य के अज्ञान को दूर करने के प्रयास कावर्णन है। संस्कृत निष्ठ भाषा, अनुप्रासिक प्रयोग भावोत्कर्षक हैं।

(35)

जब कभी धरा पर प्रलय हुआ

यह श्रेय जाता है केवल जल को धरती को शीतलता का लोभ दे
इसे लूटा है, इसीलिए आज
यह धरती धरा रह गई
न ही वसुंधरा रही न वसुधा !
और
वह जल रत्नाकर बना है –
बहा–बहा कर
धरती के वैभव को ले गया है।
पर–सम्पदा की ओर दृष्टि जाना
अज्ञान को बताता है,
और
पर–सम्पदा हरण कर संग्रह करना
मोह–मूर्च्छा का अतिरेक है।

शब्दार्थ– धरा–पृथ्वी, रत्नाकर–सुख संपदा का भंडार, पर सम्पदा–दूसरों के वैभव, अतिक –परिग्रह।

संदर्भ एवं प्रसंग –प्रस्तुत पंक्तियाँ आचार्य विद्यासागर द्वारा रचित महाकाव्य ''मूकमाटी'' से ली गयी हैं। इन पंक्तियों में जल को सांसारिक विषय वासनाओं को अपनाने वाले मिथ्या ज्ञान का प्रतीक माना गया है तथा 'जलधि' को जड़वस्तु का संग्रह करने वाली बुद्धि के प्रतीक रूप में ग्रहण किया गया है। कवि ने आत्मा से भिन्न वस्तुओं का लोभ रखने के दुष्परिणाम पर भी प्रकाश डाला है। यहां धरा या धरती आत्मा के प्रतीक रूप में चित्रित है।

व्याख्या – कवि कहता है कि जब कभी जीवात्मा को दुखदायी–विनाश की स्थिति झेलनापड़ी है तो इसका कारण जड़ वस्तुओं में प्रयोजन मानने की भावना (जड़ धी) रही है। जड़–वस्तुओं में प्रयोजन रखने वाला ज्ञान संचय (जड़धि) के द्वारा आत्मा की सुख–संपदा लूट ली गयी है। इसी कारण जीवात्मा का शुद्ध सुखमय रूप बदल गया। आत्मा में न तो स्वाभाविक सुन्दरता रही और न ही उसका अमृत मयी स्वरूप रहा और जड़ज्ञान संचित होकर रत्नाकर (सुख संपदा) का भंडार कहलाने लगा। आत्मा रूपी धरती की सारी सुख–संपदा जड़ ज्ञान में अर्थात जड़ वस्तुओं के प्रयोजन में खो गई । कवि कहता है कि आत्मा से विलग वस्तुओं की ओर लोभ दृष्टि जाना कवि के अज्ञान की सूचना देता है और आत्मा से विलग जड़वस्तुओं को अपने स्वामित्व में लेकर उनका अपने पास संग्रह करना मोह–मूर्च्छा (अतिरेक–परिग्रह) की सीमा लांघना है। यह सबसे बड़ा पाप कार्य है। इस परिग्रह या जड़पदार्थों का संग्रह करने के कारण व्यक्ति स्वयं दुख भोगता है और दूसरे प्राणी भी उसकी परिग्रह वृत्ति से दुखी होते हैं। इसी पाप कार्य के कारण जीवात्मा को नरकों का यातनामय जीवन जीना पड़ता है। यह

निन्दनीय कार्य करके जड़ वस्तुओं का अपार संचय करने वाले ने बुद्धिहीनता का परिचय दिया। इसी कारण उसका नाम जलधि अर्थात, जड़ पदार्थों में प्रयोजन रखने वाली 'धी' (बुद्धि) का नाम पाया है।

विशेष – इन पंक्तियों में जड़ वस्तुओं के मोह के दुष्परिणामों का वर्णन किया गया है। इनमेंप्रतीकों का सुन्दर प्रयोग है। तत्सम शब्दों का बाहुल्य भी भावाभिव्यक्ति में बाधक नहीं है।

(36)

जो
मह यानी मंगलमय माहौल,
महोत्सव जीवन में लाती है
महिला कहलाती वह।
जो निराधार हुआ, निरालम्ब,
आधार का भूखा
जीवन के प्रति उदासीन–हतोत्साही हुआ
उस पुरूष में...
मही यानी धरती
धृति–धारणी जननी के प्रति
अपूर्व आस्था जगाती है।
और पुरूष को रास्ता बताती है
सही–सही गन्तव्य का–
महिला कहलाती वह !

शब्दार्थ –माहौल–वातावरण, निराधार–आधार रहित, हतोत्साही–निराश, धारणी–धारण करने वाली, गन्तव्य–लक्ष्य।

संदर्भ एवं प्रसंग –प्रस्तुत पंक्तियाँ आचार्य विद्यासागर द्वारा रचित महाकाव्य ''मूकमाटी'' से ली गयी हैं। इन पंक्तियों में कवि ने उस समय का वर्णन किया है जब लेश्या (कषाय भावना) सम्यज्ञान रूपी सूर्य की जीवन संगिनी शुभ भावना को मोहरूपी समुद्र के पक्ष में करने के लिए प्रयत्न करती है जिससे उसकी जीवन संगिनी (परोपकारी भावना) कहीं उसके बहकावे में न आ जाए।

व्याख्या – सम्यक्त्व सूर्य लेश्या को समझाते हुए कहता है कि नारी जाति की परम्परा सदैव संसार की पीड़ा हरण की रही है। 'महिला' संबोधन से नारी जाति को इसलिये पुकारा जाता है क्योंकि जीवन को श्रेष्ठतम सुखों से भरकर उत्सव में बदलने का कार्य करती आयी है। जब पुरूष अपने को असहाय अनुभवकरता है, जब उसे कोई आलम्बन देने वाला नजर नहीं आता, उसे जीवन निरर्थक भार जैसा लगने लगता है, वह हतोत्साहित होकर जीवन में सिवाय दुख

के कुछ भी अनुभव नहीं कर पाता उस समय साहस उत्साह देने वाली, आत्मा के प्रति अपूर्व आस्था जगाने का कार्य नारी करती है। नारी ही पुरूष को ढांढस बंधाकर जीवन में प्रगति का रास्ता बतलाती है। ऐसे सन्मार्ग का रास्ता बताने वाली नारी को ही महिला संबोधन दिया गया है। अतः नारी होकर कभी किसी का बुरा नहीं करना चाहिए।

विशेष – यहाँ नारी जाति की पर पीड़ा हरण की प्रवृत्ति को दर्शाया गया है। कवि की दृष्टि में नारी उत्साहवर्धनी, जागृत करने वाली तथा मार्ग दर्शनी है। इसमें नारी–सम्मान का संदेश है।

(37)

ओ,सुख चाहने वालो ! सुनो,
'सुता' शब्द स्वयं सुना रहा है
'सु' यानी सुहावनी अच्छाइयाँ
और
'ता' प्रत्यय वह
भाव–धर्म, सार के अर्थ में होता है
यानी,
सुख–सुविधाओं का स्त्रोत...सो–
'सुता' कहलाती है
यही कहती हैं श्रुत–सूक्तियाँ !
दो हित जिसमें निहित हों
वह 'दुहिता' कहलाती है
अपना हित स्वयं ही कर लेती है,
पतित से पतित पति का जीवन भी
हित सहित होता है, जिससे
वह दुहिता कहलाती है।

शब्दार्थ – सुता–पुत्री, स्त्रोत–आधार, निहित–विद्यमान, दुहिता–दोकुलों का हित करने वाली।

संदर्भ एवं प्रसंग –प्रस्तुत पंक्तियाँ आचार्य विद्यासागर जी द्वारा रचित ''मूकमाटी'' महाकाव्य से ली गयी हैं। इन पंक्तियों में कवि ने उस समय का वर्णन किया है जब सम्यकत्व का सूर्य कषाय संयुक्त भावना रूपी लेश्याओं की बदलियों को सन्मार्ग पर लाने का प्रयास करता है।

व्याख्या –सम्यकत्व का सूर्य अपनी पत्नी सूर्यप्रभा के माध्यम से लेश्याओं को समझाइश देता है कि नारी जाति को परोपकार की परम्परा से नहीं हटना चाहिए। परोपकार वृत्ति में ही नारी जाति का गौरव है। अतः कुंभ (संयमी जीवन) को नष्ट करने के लिए जड़ बुद्धि (जलधि) के कहने में आकर कुंभ, (संयमी जीवन) को नष्ट करने का अनुचित कार्य नहीं करना चाहिए। सम्यकत्व अपनी पत्नी शुभ भावना से कहता है कि कषाय की बदलियों को समझाओं कि सुता

शब्द का यह संदेश मान ले कि सुहावनी अच्छाइयों का पालन करना नारी जाति का आदर्श रहा है। नारी सदैव जीवन में सुख–सुविधाओं का स्त्रोत रही है। इसीलिए उसके अनेक नामों में एक नाम सुता भी है। श्रुत वचनों में नारी जाति की इस महिमा को बतलाया गयाहै कि नारी अपना और पतित से पति के जीवन का, इस प्रकार दो प्रकार का हित साधा करती आयी है, इसीलिए नारी का एक नाम दुहिता भी है। इसके अतिरिक्त एक कारण और है जिससे नारी को दुहिता या दोहिता कहा जाता है। वह कारण यह है कि नारी को कुल (स्वयं का कुल और शादी के बाद पति के कुल का) मंगल कार्य करना पड़ता है। वह इहलौकिक जीवनतथा पारलौकिक जीवन के सुख को बढ़ाने के उपाय करती है। वास्तव में नारी स्वयं के और समाज के हितों का संपादन करती है। चाहे वह मां बाप के घर में रहे, चाहे पति के घर में, चाहे पारिवारिक जीवन हो या सामाजिक जीवन चाहें इहलोक का जीवन हो यापरालौकिकजीवन, दोहरे प्रकार के हितों को अग्रसर करती है, इसीलिए दुहिता संबोधन उसे दिया गया है।

विशेष – यहाँसुता और दुहिता शब्दों की व्याख्या की गई है। इसमें नारी का कल्याणकारी रूप प्रस्तुत किया गयाहै। भाषा सरल और प्रवाहपूर्ण है।

(38)

मुक्ता की राशि को
बोरियों में भरने का
संकेत मिला मण्डली को।
राजा के संकेत को
आदेश–तुल्य समझती
ज्यों ही...नीचे झुकती
मण्डली राशि भरने को,
त्यों ही.....
गगन में गुरू गम्भीर गर्जना :
"अनर्थ ... अनर्थ... अनर्थ !
पाप..पाप..पाप....!
क्या कर रहे आप ... ?
परिश्रम करो
पसीना बहाओ
बाहुबल मिला है तुम्हें
करो पुरूषार्थ सही
पुरूष की पहचान करो सही,

परिश्रम के बिना तुम
नवनीत का गोला निगलो भले ही
कभी पचेगा नहीं वह
प्रत्युत, जीवन को खतरा है !

शब्दार्थ – मुक्ता–मोतियों, नवनीत–मक्खन, प्रत्युत–वल्कि, बाहुबल–भुजा का बल।

संदर्भ एवं प्रसंग – प्रस्तुत पंक्तियाँ आचार्य विद्यासागर जी द्वारा रचित ''मूकमाटी'' महाकाव्य से ली गयी है। इन पंक्तियों में पुण्य फल की वर्षा और लालची राजा की प्रकृति का वर्णन है।

व्याख्या –कवि कहता है कि जब (पुण्य–फल) की वर्षा और राजा के लालच भरे आदेश को सुनकर उसके सेवकों की मंडली मोतियों (मुक्ताओं) को बोरियों में भरने लगती है। उसी समय आकाशवाणी होती है कि यह अनर्थ (अनुचित) कार्य मत करो। दूसरों के पुण्यफल पर बगैर पूछे कब्जा करना तो चोरी का पाप है। हे राजन! आप यह गलत कार्य (पाप) क्यों कर रहे हैं ? मूल्यवान मोती प्राप्त करने के लिए परिश्रम करिये। पसीना बहाकर मेहनत करो। तुम्हें प्रकृति ने बाहुबल दिया है। उसके द्वारा उचित पुरूषार्थ करो तभी सही (सज्जन) पुरूष की पहचान होगी। बिना परिश्रम के तो मक्खन सेवन करना गलत है क्योंकि वह पचेगा नहीं। जिस तरह बिना परिश्रम के नवनीत खाना भी मृत्यु का खतरा (बीमारी) ला सकता है इसी प्रकार बिना मेहनत के ओरों के पुण्यफल पर अधिकार करना भी गलत है।

विशेष – इसमें मूल्यवान मोती प्राप्त करने के लिए परिश्रम पर बल दिया गया है। कवि ने बिना श्रम किये पुण्यफल पर अधिकार करना अनुचित बताया है। यहाँ तत्सम और तद्भव शब्दों का सार्थक प्रयोग मिलता है।

(39)

दूसरी बात यह भी है कि
'लक्ष्मण–रेखा का उल्लंघन
रावण हो या सीता
राम ही क्यों न हों
दण्डित करेगा ही !
अधिक अर्थ की चाह–दाह में
जो दग्ध हो गया है
अर्थ ही प्राण,अर्थ ही त्राण
यूँ–जान–मानकर,
अर्थ में ही मुग्ध हो गया है,
अर्थ–नीति में वह
विदग्ध नहीं है।

शब्दार्थ – दग्ध–जलजाना, त्राण–रक्षा, विदग्ध–कुशल, अर्थ– धन, मुग्ध–विमोहित।

संदर्भ एवं प्रसंग – प्रस्तुत पंक्तियाँ आचार्य विद्यासागर जी द्वारा रचित ''मूकमाटी'' महाकाव्य से ली गयी हैं। इन पंक्तियों में उस समय का वर्णन है जब कुंभकार (संस्कार शिक्षक) के प्रांगण में वर्षा मुक्ताओं के भरने के प्रयास में राजमंडली मूर्च्छित हो जाती है और संस्कार शिक्षक (कुंभकार) उन्हें होश में लाता है।

व्याख्या – अपक्व कुंभ (नया नया संयमी) राजा को उपदेश देता है कि राजन ! प्रत्येक कार्य क्षेत्र में एक मर्यादा रेखा (नियम पालन की सीमा) होती है। उसका उल्लंघन रावण जैसा बलशाली करे या सीता जैसी सावित्री करे तो दुष्परिणाम झेलना पड़ता है। साक्षात राम को भी मर्यादा का पालन करना पड़ा था। अन्यथा मर्यादा उल्लंघन का दंड भोगना पड़ता है। यदि कोई व्यक्ति अधिक धन की चाह रूपी अग्नि में जल गया है, वह धन को ही प्राणों की तरह प्यारा समझता है, धन को ही सब दुखों से रक्षा करने वाला मान बैठा है या सबकुछ परिणाम जानकार धन के पीछे ही पागल सा हो गया है तो ऐसे व्यक्ति को धन संबंधी नीतियों में निपुण नहीं कहा जा सकता है। कारण यह है कि अनुचित ढंग से अर्जित धन दुख का कारण है।

विशेष – यहाँ कार्यक्षेत्र में मर्यादा की आवश्यकता पर बल दिया गया है। कवि की दृष्टि में उचित ढंग से कमाया गया धन सुखप्रद होता है। इसमें संस्कृत के तत्सम शब्दों तथा उपदेशात्मक शैली का प्रयोग है।

(40)

लघु होकर गुरूजनों को
भूलकर भी प्रवचन देना
महा अज्ञान है दु'ख–मुधा,
परन्तु,
गुरूओं से गुण ग्रहण करना
यानी
शिव–पथ पर चलेंगे हम,
यूँ उन्हें वचन देना
महा वरदान है सुख–सुधा,
और ग
गुरू होकर लघु जनों को
स्वप्न में भी वचन देना,
यानी
उनका अनुकरण करना

सुख की राह को मिटाना है।

शब्दार्थ – अज्ञान–मूर्खता, दुःखमुधा–दुखदायी, शिवथ–कल्याण का मार्ग, सुख–सुधा–सुख का अमृत, राह–रास्ता।

संदर्भ एवं प्रसंग – प्रस्तुत पंक्तियाँ आचार्य विद्यासागर जी द्वारा रचित ''मूकमाटी'' महाकाव्य से ली गयी हैं। इन पंक्तियों में उस समय का वर्णन किया गया है जब अपरिपक्वकुंभ (नया नया संयम साधक) राजा को उपदेश देता है।

व्याख्या– कुंभकार (शिक्षक) कहता है कि अपने से बड़ों को भूल से उपदेश देना महान अज्ञान का कार्य माना गया है। यह दुखदायी परिणाम देने वाली प्रवृत्ति है। अपने से बड़ों से गुण ग्रहण करना, अच्छी बातों की शिक्षा लेना अर्थात् शिवपथ अर्थात् शाश्वत सुख दशा की साधना (मोक्ष की साधना) करने का वचन देना श्रेष्ठ वरदान लेने की तरह है। बडों से शाश्वत् सुख के उपायों को सीखना अमृत पान की तरह आनंद दायी है। लघुजनों का अनुकरण दुखदायी है।

विशेष – यहाँ बड़ों को उपदेश देने और लघु जनों वे अनुकरण को दुखप्रद बताया गया है। रूपक अलंकार और सामाजिक पदावली का प्रयोग सार्थक है।

(41)

बड़वानल भयंकर रूप ले खौल उठा,
और
'हे क्षार का पारावार सागर,
तुझे पी डालने में
एक पल भी पर्याप्त है मुझे'
यूँ बोल उठा।
आवश्यक अवसर पर
सज्जन–साधु पुरूषों को भी,
आवेश–आवेग का आश्रय लेकर ही
कार्य करना पड़ता है।
अन्यथा,
सज्जनता दूषित होती है
दुर्जनता पूजित होती है।
जो शिष्टों की दृष्टि में इष्ट कब रही....?

शब्दार्थ – बड़वानल–बडवाग्नि, आवेश–आवेग–जोश और क्रोध, दूषित–दोषयुक्त, शिष्ट–सभ्यजन, इष्ट–प्रिय।

संदर्भ एवं प्रसंग – प्रस्तुत पंक्तियाँ आचार्य विद्यासागर जी द्वारा रचित ''मूकमाटी'' महाकाव्य से ली गयी हैं। इन पंक्तियों में उस समय का वर्णन है जब कषायों से कलुषित मिथ्या ज्ञान का समुद्र सम्यक ज्ञान रूपी सूर्य को पराजित करने की इच्छा और अपरिपक्व कुंभ (नव शिक्षित संयमी) के संयम को नष्ट करने के लिए आक्रोशित होता है तो सम्यज्ञान रूपी सूर्य मिथ्यात्व की तह में रहने वाले तत्व–ज्ञान रूपी बढ़वानल को सूचित करता है।

व्याख्या– कवि कहता है कि मिथ्यात्व समुद्र की पाप–संयुक्त इच्छा को जानकर बढ़वानल आक्रोशित होकर उसे पीकर एक पल में नष्ट करने की बात कहता है।इस स्थिति का वर्णन करते हुये कवि कहता है कि जब पाप प्रवृतियाँ सर उठाने लगती हैं तो सज्जन पुरूषों को भी आवेग–आवेश की सहायता लेना पड़ती है। यद्यपि आवेग–आवेश अनुचित कार्य माने गए हैं किंतु सज्जनता को दूषित होने से बचाने की शुभ इच्छा से प्रेरित होकर सज्जनों को भी आवेग–आवेशों का सहारा लेना पड़ता है। यद्यपि शिष्ट लोगों की दृष्टि से यह कार्य कभी इष्ट (अच्छा) नहीं माना गया।

विशेष – इस पद्यांश में दर्शाया गया है कि जब पाप प्रवृतियाँ बढ़ने लगती हैं तब सज्जनों का आवेग–आवेश दिखाई देता है जो सज्ज्नता का रक्षक होता है। यहाँ अलंकारिक भाषा तथा शान्त रस का प्रयोग भावोत्कर्षक है।

(42)

गन्दा नहीं,
बन्दा ही भयभीत होता है
विषय–विघन संसार में–
और,
अन्धा नहीं
आँख–वाला ही भयभीत होता है
परम–सघन अन्धकार से।
हिंसा की हिंसा करना ही
अहिंसा की पूजा है...प्रशंसा,
और हिंसक की हिंसा या पूजा
नियम से
अहिंसा की हत्या है...नृशंसा।
धी–रता ही वृत्ति वह
धरती की धीरता है
और काय–रता ही वृत्ति वह
जलधि की कायरता है।

शब्दार्थ –विषम–विघन– संसार – दुखदायी–विघ्नों का संसार, धी–रता–आत्म बुद्धि में रत, नृशंसा–क्रूरता, काय–रता–इंद्रियों मेंआसक्त।

संदर्भ एवं प्रसंग – प्रस्तुत पंक्तियाँ आचार्य विद्यासागर जी द्वारा रचित ''मूकमाटी'' महाकाव्य से ली गयी हैं। इन पंक्तियों में उस समय का वर्णन है कि जब मिथ्याज्ञान रूपी समुद्र केआदेश से अशुभ लेश्याओं के बादल नवदीक्षित संयमी को संयम नियमों से बिखरा देने या गला देने के लिए भेजे जाते हैं, तब मिथ्यात्व की योजना को विफल करने के लिए सम्यक्व सूर्य का आवेश प्रकाश में आता है।

व्याख्या – कवि कहता है कि दुखदायी विघ्नों के संसार से गंदा व्यक्ति ही भयभीत नहीं होता बल्कि धर्म पर चलने वाले भक्त भी विघ्नों से डरते हैं। जिस तरह अंधे व्यक्ति (नहीं आंख वाले) ही अत्यंत घनघोर अंधेरा होने पर भयभीत हो जाते हैं। इसीलिये धर्म की रक्षा के लिए हिंसा की प्रवृतियों को समाप्त करना उचित माना गया है। हिंसा को समाप्त करना ही दूसरे शब्दों में अहिंसा की उपासना करना है उसे प्रोत्साहन देना है। लेकिन इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि हिंसा करने वाले व्यक्ति को मार दिया जाय। वास्तव में हिंसक को मारना भी हिंसा है। अहिंसा धर्म से विचलित होना है। हिंसक की हत्या करना भी क्रूरता है। आत्मधर्म पर स्थिर रहने वाले धीर–वीर आत्मबुद्धि में लीन रहते हैं। आत्मा का लक्षण ही आत्म ज्ञान में रत रहना है। इसके विपरीत जो काया–देह की इन्द्रियों में आसक्ति रखते हैं, वे कायर (डरपोक) होते हैं।

विशेष – इसमें अहिंसा के पालन का संदेश है। यहाँ शान्त रस तथा प्रतीकों का प्रयोग मिलता है। उपदेशात्मक शैली का प्रयोग है।

(43)

जब हवा काम नहीं करती
तब दवा काम करती है,
और
जब दवा काम नहीं करती
तब दुआ काम करती है
परंतु
जब दुआ भी काम नहीं करती
तब क्या रहा शेष ?
कौन सहारा ? ....सो सुनो !
दृढ़ा ध्रुवा संयमा–आलिंगिता
यह जो चेतना है–
स्वयंभुवा काम करती है,

यूँ सोचती हुई धरती को
विनय–अनुनय से कहते हैं
कण–कण ये :

शब्दार्थ– दवा–औषधि,दृढ़ा–ध्रुवा–दृढ और स्थिर, स्वयं भुवा–स्वयं उत्पन्न।

संदर्भ एवं प्रसंग – प्रस्तुत पंक्तियाँ आचार्य विद्यासागर जी द्वारा रचित ''मूकमाटी'' महाकाव्य से ली गयी हैं। इन पंक्तियों में कवि ने मोहनी–कर्म के राहु द्वारा सम्यक्व रूपी सूर्य को ग्रस लिये जाने का वर्णन किया है। राहु (तीव्र मोह) द्वारा सम्यक्व सूर्य को ग्रस लिये जाने के कारण प्रलय कारिणी वर्षा का वातावरण छा जाता है तो सम्यक्व सूर्य को राहु (मोह मिथ्यात्व) से मुक्ति दिलाने हेतु धरती के कण (आत्मा के परमाणु) तत्पर हो जाते हैं।

व्याख्या– कवि के अनुसार मृत्यु से घिरे रोगी को निरोग करने लिए जब हवा काम नहीं करती तो उसे दवा का सेवन कराया जाता है। दवा से सफलता नहीं मिलती तो अलौकिक शक्ति से प्रार्थना की जाती है। किन्तु जब दुआ या प्रार्थना भी काम नहीं करती तब संयम से जुड़ी दृढ़ स्थायी चेतना (आत्मशक्ति) जो स्वयं से ही उत्पन्न है काम करती है। इस स्वयंभुवा चेतना के कण विनय पूर्वक आम–सत्ता रूप मां से विनयपूर्वक कहते हैं कि हम राघव वंश अंश हैं। हम विनयभाव के प्रशंसक हैं लेकिन जो अहंकारी हैं, तीव्र मानकषाय से संस्कारित घमंडी हैं, उनका हम घ्वसं करते हैं अर्थात आत्मा के परमाणु तीव्र मान कषाय की भावनाओं को नष्ट करने की शक्ति धारण करते हैं।

विशेष – इसमें आत्मशक्ति के प्रभाव का वर्णन है। लक्षणाशक्ति का सफल प्रयोग है। विनय–अनुभव तथा कण–कण' में अनुप्रासिक प्रयोग है।

(44)

महापुरूष प्रकाश में नहीं आते
आना भी नहीं चाहते,
प्रकाश–प्रदान में ही
उन्हें रस आता है।
यह बात निराली है, कि
प्रकाश सब को प्रकाशित करेगा ही।
स्व हो या पर, 'प्रकाश्य' भर को....!
फिर, सत्ता–शून्य वस्तु भी कहाँ है ?
फिर, यह भी सम्भव कहाँ
कि
सत्ता हो और प्रकाशित न हो ?
इन्द्र–सम यही चाहता है 'यह' भी।

शब्दार्थ –रम – आनन्द, निराली – अनोखी, सत्ता – शून्य – सत्ता रहित।

संदर्भ एवं प्रसंग –प्रस्तुत पंक्तियाँ आचार्य विद्यासागर जी द्वारा रचित ''मूकमाटी'' महाकाव्य से ली गयी हैं। इन पंक्तियों में उस समय का वर्णन हैजब सम्यक्त्व सूर्य को राहु (तीव्र कषाय मोहनी) से मुक्त करने के लिए इन्द्रधनुष के माध्यम से पुण्यशाली इन्द्र भी मदद करने आ गयाहै।

व्याख्या–कवि कहता है कि संयमी (कुंभ) की रक्षा करने केलिए इन्द्र भी सहायता करने आ गया है किंतु इन्द्र प्रत्यक्ष रूप से दिखायी नहीं देता परंतु इन्द्रधनुष से उसकी उपस्थिति का आभास न्याय की रक्षा हेतु इन्द्रधनुष के द्वारा हो रहा है। जिस तरह विद्युत दिखायी नहीं देती किंतु उसकी निराकार उपस्थिति प्रकाश प्रदान करने में सुख काअनुभव करती है इसी प्रकार इन्द्र (पुण्य बल) भी सहायता करने आया है परंतु उसका दिखावा नहींकर रहा है जिनमें दूसरों की भलाई की योग्यता होती है 'स्व' हो या 'पर' यदि उसमें पात्रता है तो वह अवश्य ही उससे शक्ति ग्रहण कर लेती है। संसार में प्रत्येक वस्तु में सत्ता का गुण होता है। सत्ता जहां है वहां प्रकाशित होने का गुण भी होता है। ऐसा कभी नहीं होता कि सत्ता तो हो किंतु उसका परिचय न मिले। इन्द्र की तरह मैं भी चाहता हूँ कि मेरी आत्मसत्ता प्रकाशमान हो जाय। उसके गुण विकसित होकर प्रकट हो जायें।

विशेष – यहाँ आत्मसत्ता केप्रकाशमान होने तथा गुण विकसित होने की कामना है। इसमें उपमालंकार का प्रयोग है।

(45)

मैं यथाकार बनाना चाहता हूँ
व्यथाकार नहीं।
मैं तथाकार बनाना चाहता हूँ
कथाकार नही।
इस लेखनी की भी यह भावना है–
कृति रहे, संस्कृति रहे
आगामी असीम काल तक
जागृत....जीवित.अजित !
सहज प्रकृति का वह
श्रृंगार–श्रीकार
मनहर आकार ले
जिसमें आकृत होता है।
कर्त्ता न रहे, वह
विश्व केसम्मुख कभी भी

शब्दार्थ –यथाकर–यथा स्वरूप, व्यथाकार–पीड़ा देने वाला, कृति–रचना, अजित –जिसे कोई जीत न सके,श्री–लक्ष्मी, कर्ता–करने वाला।

संदर्भ एवं प्रसंग – प्रस्तुत पंक्तियाँ आचार्य विद्यासागर जी द्वारा रचित ''मूकमाटी'' महाकाव्य से ली गयी हैं। इन पंक्तियों में कवि ने निजी भावना भायी है कि मैं अपने वास्तविक रूप ज्ञान–दर्शन स्वभाव का बनना चाहता हूँ मैं दुखमयी जीवन के स्वरूप में अपने को नहीं ढ़ालना चाहता।

व्याख्या–कवि कहता है कि मैं अपने यथा स्वरूप ज्ञानानंद स्वभावी बनना चाहता हूँ। मिथ्या कल्पना के आधार पर जीवन व्यतीत नहीं करना चाहता। मेरा लेखन भी इसी भावना से किया जा रहा है कि यश लिप्सा, लोक प्रशंसा से दूर रहूँ। बस आत्म–पर कर्तव्य का बोध कराने वाली मेरी कृति तो रहे और इसमें जो आत्माके विकास की संस्कृति बतायी गई है वह आत्मा के शाश्वत सुख की संस्कृति भी आगामी असीम कला तक लोगों को जागरूक करती रहे, शाश्वत जीवन का संदेश प्रेषित करती रहे। सभी प्रकार के छलकपट पूर्ण दिखावे से मुक्त हो और सहत स्वभाव (आत्म स्वरूप) को प्रगट करने के लिये प्रयत्नशील रहे ताकि मोक्ष लक्ष्मी को मनोहारी रूप प्राप्त हो सके। मैं चाहता हूँ कि मुझमें यह भाव कभी न आये कि मैं पर का कुछ कर रहा हूँ। पर के कर्तापन का भाव विश्व केसामने कभी न लाऊँ।

विशेष – इसमें पर के कर्तापन के भाव को त्याज्य बताया गया है। यहाँ कवि की कामना है कि वह लेखनी द्वारा मानव को शाश्वत जीवन का संदेश देने में समर्थ हो। भाषा प्रवाहपूर्ण संस्कृतनिष्ठ एवं भावोत्कर्षक है।

(46)

लेखनी से हुई इस तुलना में
अपना अवमूल्यन जान कर ही मानो,
निर्दय हो टूट पड़े
भू–कणों के ऊपर अनगिन ओले।
प्रतिकार के रूप में
अपने बल का परिचय देते
मस्तक के बल भू–कणों ने भी
ओलों को टक्कर देकर
उछाल दिया शून्य में
बहुत दूर...धरती के कक्ष के बाहर,
'आर्यभटट, 'रोहिणी' आदिक
उपग्रहों को उछाल देता है
यथा प्रक्षेपास्त्र !

शब्दार्थ – अवमूल्यन–अपमान, निर्दय–दया रहित, प्रतिकार–बदले की भावना से, कक्ष–सीमा, अनगिन–गिनती रहित।

संदर्भ एवं प्रसंग – प्रस्तुत पंक्तियाँ आचार्य विद्यासागर जी द्वारा रचित ''मूकमाटी'' महाकाव्य से ली गयी हैं। इन पंक्तियों में आत्मा में दृढ़ आस्था रखने वाले मनोभावों को भूकणों का तीव्र कषाय से संयुक्त मनोभावों (लेश्याओं) से संघर्ष वर्णित है।

व्याख्या– कवि कहता है कि लेखनी से हुई तुलना में अपनी स्थिति को अपमान सूचक जानकर क्रोधमान माया लोभ की तीव्र भावनाओं के बादल दया से पूर्ण रहित हो चेतन आत्मा में आस्था रखने वाले भावों (भूकणों) को नष्ट करने के लिए टूट पड़े। कवि कहता है कि आत्मा के भावकण भी आक्रमण का प्रतिकार करने के लिये कषाय संयुक्त घनी भूत बादलों (ओलों) के ऊपर टूट पड़े। उन्होंने कषाय भावनाओं को शून्य में बहुत दूर उछाल दिया। वे आत्मारूपी धरती के कक्ष के बहुत बाहर गिरे। जिस तरह प्रक्षेपास्त्र आर्यभटट, रोहिणी आदि को प्रक्षेपास्त्र अंतरिक्ष में उछाल देता है, ऐसी ही दशा कषाय संयुक्त भावनाओं के ओलों की हो गई।

विशेष – इसमें आत्मा में दृढ़ आस्था रखने वाले मनोभावों का तीव्र कषाय युक्त मनोभावों से संघर्ष का वर्णन है जिसमें आत्माके प्रति आस्थावान मनोभावों की विजय होती है। यहां उपमा अलंकार का सार्थक प्रयोग है।

(47)

ऊपर घटती इस घटना का अवलोकन
खुली आँखों से कुम्भ–समूह भी कर रहा।
पर,
कुम्भ के मुख पर
भीति का लहर–वैषम्य नहीं है
सहज–साक्षी भाव से, बस
सब कुछ संवेदित है
सरल–गरल, सकल–शकल सब !
इस पर भी
विस्मय की बात तो यह है
कि,
एक भी ओला नीचे आकर
कुम्भ को भग्न नहीं कर सका !
जहाँ तक हार–जीत की बात है–
भू–कणों की जीत हो चुकी है

और
बादलों–ओलों के गले में
हार का हार लटक रहा है
सुरभि–सुगन्धि से रहित
मृतक मुरझाया हुआ।

शब्दार्थ – भीति–डर, गरल–विष, हार–पराजय, हार–माला, सुरभि–सुगन्ध, मृतक–चेतना शून्य।

संदर्भ एवं प्रसंग – प्रस्तुत पंक्तियाँ आचार्य विद्यासागर जी द्वारा रचित ''मूकमाटी'' महाकाव्य से ली गयी हैं। इन पंक्तियों में लेश्या रूपी बादलों (कषाय कर्म परमाणुओं) तथा आत्म–परमाणु के संघर्ष को देखकर कुंभ (संयम धर्म के प्रशिक्षणार्थी) की प्रतिक्रिया का वर्णन किया गया है।

व्याख्या – कवि वर्णन करता है कि भूकणों (आत्मा के परमाणु) ने जब तीव्रकषाय अर्थात क्रोध मान माया लोभ के भावों (ओलों) को परास्त कर दिया तो इस घटना को ध्यान पूर्वक कुंभ (संयम का प्रशिक्षण ले रहे जीवात्मा) ने देखा। किंतु यह जानकार भी कि कषाय के तीव्र बादल ओला बनकर उसे ही नष्ट करने आये थे, वह भयभीत नहीं हुआ। उसमें कोई विषम भाव (राग द्वेष के भाव) नहीं आये। वह तटस्थ होकर देखता रहा। उसने देखा कि यह कितने विस्मय की बात है कि कोई भी कषाय का ओला उसको संयम धर्म को विचलित नहीं कर पाया। उसका अहिंसा धर्म पालन अखंडित रहा। जहाँ तक हारजीत का प्रश्न है तो उसने यह अनुभव किया कि कषाय के बादलों के ऊपर आत्मगुणों की जीत हो चुकी है और कषाय के बादल तथा उसके संगी साथी पराजित हो गए हैं। कषाय के बादलों के गले में पराजय का हार लटक गया है।

विशेष – इसमें कषाय कर्म परमाणु और आत्म परमाणु के संघर्ष तथा उससे प्रभावित संयमधर्म के प्रशिक्षणार्थी की प्रतिक्रिया का वर्णन है जो निडर, तटस्थ तथा रागद्वेष के भाव से रहित रहा। यहाँ प्रतीकों तथा अलंकारिक भाषा का सफल प्रयोग है।

(48)

धर्म–संकट में पड़े स्वामी को देख
गुलाब–पौध बोल उठा :
''इस संकट का अन्त निकट हो,
विकट से विकटतम संकट भी
कट जाते हैं पल भर में,
आप को स्मरण में लाते ही
फिर तो प्रभो !
निकट–निकटतम निरखता
आप को हृदय में पाते भी

विलम्ब क्यों हो रहा है,
आर्य के इस कार्य में ....?''

शब्दार्थ– विकट–कठिन, विलम्ब–देरी।

संदर्भ एवं प्रसंग – प्रस्तुत पंक्तियाँ आचार्य विद्यासागर जी द्वारा रचित ''मूकमाटी'' महाकाव्य से ली गयी हैं। इन पंक्तियों में गुलाब का पौधा मैत्री–भाव का प्रतीक है जिसमें संकट में पड़े स्वामी को संकट से मुक्त होने की प्रार्थना प्रभु से की गई है।

व्याख्या –गुलाब का पौधा (मैत्री भाव) व कुंभकार (मोक्ष प्राप्ति के उपायों का शिक्षण देने वाले शिक्षक) को उदास मुद्रा में देख कर मन ही मन यह भावना भाता है कि कुंभकार के प्रांगण में जो ओला वृष्टि करने वाले बादल घिरे हैं अर्थात तीव्र कषायों का अनुक्रमण जारी है। हे प्रभु आपके स्मरण मात्र से पलभर में भीषण से भीषण संकट विदा हो जाते हैं। हे प्रभु आप देख रहे हैं कि यह शिल्पी (संस्कार प्रशिक्षक) आपको हृदय में धारणा करते हैं फिर भी उनके संकट दूर होने में विलम्ब क्यों हो रहा है ?

विशेष – इसमें गुलाब पौधा द्वारा संकट में पड़े शिल्पी को उबारने के लिए प्रभु से प्रार्थना की गई है। यहाँ गुलाब पौध मैत्रीभाव का प्रतीक है। अलंकारिक प्रयोग भी विशिष्ट है।

(49)

पर के लिए भी कुछ करूँ
सहयोगी–उपयोगी बनूँ
यह भावना एक बहाना है,
दूसरें को माध्यम बनाकर
मध्यम–यानी समता की ओर बढ़ना
बस, सुगमतम पथ है,
और
औरों के प्रति अपने अन्दर भरी
ग्लानि–घृणा के लिए विरेचन !''
पवन के इस आशय पर
उत्तर के रूप में, फूल ने
मुख से कुछ भी नहीं कहा,
मात्र गम्भीर मुद्रा से
धरती की ओर देखता रहा।

शब्दार्थ – पर–दूसरों, सहयोगी–सहयोग करने वाला, सुगमतम–सबसे अधिक सरल, विरचन–बाहर निकालना।

संदर्भ एवं प्रसंग – प्रस्तुत पंक्तियाँ आचार्य विद्यासागर जी द्वारा रचित ''मूकमाटी'' महाकाव्य से ली गयी हैं। इन पंक्तियों में पवन (मैत्री भाव के सहयोगी) के कथन का वर्णन है। गुलाब पौध (मैत्री भाव) जैसे ही सहयोगी पवन की याद करता है, पवन शीघ्र आकर गुलाब पौध से मित्र की सहायता करने में तत्परता दिखलाता है।

व्याख्या – पवन कहता है कि पर के उपकार की भावना तो एक माध्यम है स्वयं की भलाई करने का। स्वयं की सबसे बड़ी भलाई राग और द्वेष की प्रवृत्तियों को जीतकर समता भाव (आत्म स्वभाव में) लीन होना है। व्यक्ति के जीवन को नष्ट करने वाले ग्लानि–घृणा के भावों को बाहर निकालने के लिए परोपकार के भाव व कार्य प्रबल माध्यम का कार्य करते हैं। पवन के इस पवित्र आशय को सुनकर फूल (मैत्री भाव) ने कुछ नहीं कहा गंभीर मुद्रा में वह धरती आत्मा की ओर दृष्टिपात करता रहा। फिर दया से द्रवीभूत होकर करूणा भरी दृष्टि से शिल्पी की ओर संकेत किया। इसका आशय था कि शिल्पी (संस्कार प्रशिक्षक) को चिन्ता मुक्त करें। संस्कार शिक्षक शारीरिक कष्टों की परवाह नहीं करते उनकी चिन्ता का कारण कषायों के बादलों के वे प्रयत्न हैं जिनके वे नव प्रशिक्षित संयम–संस्कारियों के संस्कारों से विलग करना चाहते हैं।

विशेष – इसमें कवि ने बताया है कि दूसरों की भलाई में अपना हित भी अन्तर्निहित रहता है। भाषा सरल और प्रवाहपूर्ण है। इसमें गहन विचारों की सहज अभिव्यक्ति है।

(50)

यूँ, यह नूतन परिवर्तन हुआ
तथापि,
इसका प्रभाव कहाँ पड़ा–
मौन–आसीन शिल्पी के ऊपर,
मन्द–मन्द सुगन्ध पवन
बह–बह कर भी वह
अप्रभावक ही रहा।
शिल्पी के रोम–रोम वे
पुलकित कहाँ हुए ?
अपरस को परस वह
प्रभावित कब कर सकता....?
शिल्पी की नासा तक पहुँचकर भी
गुलाब की ताजी महक
उसकी नासा को जगा न सकी।

शब्दार्थ – नूतन–नया, अप्रभावक–प्रभावहीन, अपरस–स्पर्श न करने योग्य, नासा–नासिका।

संदर्भ एवं प्रसंग – प्रस्तुत पंक्तियाँ आचार्य विद्यासागर जी द्वारा रचित ''मूकमाटी'' महाकाव्य से ली गयी हैं। इन पंक्तियों में उस समय का वर्णन है कि जब अपरिपक्व कुंभ (संयम में दीक्षित नव अभ्यासी जीवात्मा) को संयम संस्कारों से विचलित कराने लेश्याओं के बादलों को भूकण (आत्मा के परमाणु) पराजित कर देते हैं फिर भी शिल्पी (संस्कार शिक्षक) की ध्यान मुद्रा टूटती नहीं।

व्याख्या – कवि वर्णन करता है कि कुंभकार के प्रांगण में अशुभ लेश्याओं के बादलों की पराजय से दृश्य ही बदल गया लेकिन–चिंतन मुद्रा में लीन शिल्पी (संयम–शिक्षक) के ऊपर इसका प्रभाव नहीं पड़ा। उसकी ध्यान मुद्रा नहीं टूटी। सुगंधित पवन बह–बहकर शिल्पी के पास जाता था किंतु उसका प्रभाव उसकी चिंतन मुद्रा पर नहीं पड़ा। शिल्पी ने नये परिवर्तित माहौल पर कोई प्रसन्नता या अप्रसन्नता प्रगट नहीं की। शिल्पी के रोमों को सुगंधित वायु का स्पर्श पुलकित नहीं कर सका। गुलाब की ताजा महक भी शिल्पी की नासामें कोई प्रसन्नता उत्पन्न नहीं कर पायी। कारण यह था कि शिल्पी इन्द्रियों के भोगों से तटस्थता धारण कर चुका था। वह ऐन्द्रिक भोगों में सुख–दुख मानतानहीं था।

विशेष – इन पंक्तियों में कवि ने लेश्याओं को पराजित करने वाले आत्मा के परमाणुओं का वर्णन किया है तथा संस्कार शिक्षक की अटल साधना का उल्लेख किया है। इसमें भाषा–शैली भावाभिव्यक्ति में सहायक है।

(51)

परीषह–उपसर्ग के बिना कभी
स्वर्ग और अपवर्ग की उपलब्धि
न हुई, न होगी
त्रैकालिक सत्य है यह !
गुप्त–साधक की साधना –सी
अपक्व–कुम्भ की परिपक्व आस्था पर
आश्चर्य हुआ कुंभकार को, और वह कहता है –
''आशा नहीं थी मुझे कि
अत्यल्प काल में भी
इतनी सफलता मिलेगी तुम्हें।
कठिन साधना के सम्मुख
बडे–बड़े साधक भी
हाँपते, घुटने टेकते हुए
मिले हैं यहाँ।
अब विश्वस्त हो चुका हूँ

पूर्णतः मैं, कि
पूरी सफलता आगे भी मिलेगी,
फिर भी, अभी तुम्हारी यात्रा
आदिम–घाटी को ही पार कर रही है,
घाटियों की परिपाटी प्रतीक्षित है अभी !

शब्दार्थ – परीषह–उपसर्ग–प्राकृतिक और आन्तरिक कष्ट, अपवर्ग–मोक्ष, अपक्व–नवदीक्षित, अत्यल्प–थोड़ा, आदिम–प्रारंभिक।

संदर्भ एवं प्रसंग – प्रस्तुत पंक्तियाँ आचार्य विद्यासागर जी द्वारा रचित ''मूकमाटी'' महाकाव्य से ली गयी हैं। इन पंक्तियों में कवि ने उस समय का वर्णन किया है जब कुंभकार (संस्कार शिक्षक) के प्रांगण में संयम–आकृति–प्राप्त शिष्यों को संयम–साधना से विचलित करने के लिए मिथ्यात्व के समुद्र की ओर से भेजे अशुभ–लेश्याओं के बादल आत्मा में आसक्ति के परमाणुओं से टकराकर पराजित हो जाते हैं और कुंभ (संयम साधक शिष्य) अपने गुरू को कुशलता का समाचार देकर निश्चिंत करता है।

व्याख्या – कुंभ (शिष्य) अपने गुरू (कुंभकार) से कहता है कि जो भी जीवात्माएं स्वर्ग अथवा मोक्ष की उपलब्धि की साधना करती हैं उन्हें अनिवार्य रूप से परीषह–उपसर्गों का सामना करना पड़ता है। अर्थात् प्राकृतिक और आंतरिक कष्ट झेलना पड़ते हैं। स्वर्ग और मोक्ष पाने के उपायों को अपनाते ही नाना प्रकार के कष्ट संयमी को झेलना पड़ते हैं। जब वह बाह्य कारण और आतंरिक कारणों से आयें सभी प्रकार के कष्टों को राग–द्वेष लाये बगैर सहन कर लेता है तभी संयम की साधना उसे स्वर्ग मोक्ष के मार्ग पर आगे बढ़ाती है। संयम में नवदीक्षित शिष्य अर्थात कुंभ के मुख से ऐसे वचन सुनकर गुरू को आश्चर्य होता है और वह शिष्य (कुंभ से कहता है कि तुमने कम समय में संयम साधना में उम्मीद से ज्यादा सफलता प्राप्त की है। संयम के कठोर नियमों के पालन में बड़े साधकों को असफल होते देखा गया है। तुमने परीषह–उपसर्गों (आतंरिक और बाह्य कष्ट) को सहन कर संयम नियमों को सुरक्षित बनाये रखा। इस योग्यता को दख कर मुझे पूरी आशा है कि आगे भी सफलता मिलेगी। लेकिन अभी तुमने संयम साधना की प्रारंभिक यात्रा में सफलता पायी है। आगे संयम के और भी कठिन नियमों का पालन करना होगा। ध्यान से सुनो अभी तप के नियम अर्थात इच्छाओं को जीतने के नियम पालन करना होंगे जो आग की नदी पार करने के समान कष्ट दायी हैं।

विशेष – इसमें साधक के सम्मुख आने वाली बाधाओं का वर्णन है। यहाँ संस्कृत निष्ठ भाषा तथा लक्षणाशक्ति का प्रयोग किया गया है।

(52)

इस पर कुंभ कहता है :
''जल और ज्वलनशील अनल में

अन्तर शेष रहता ही नहीं
साधक की अन्तर–दृष्टि में।
निरन्तर साधना की यात्रा
भेद से अभेद की ओर
वेद से अवेद की ओर
बढ़ती है, बढ़नी ही चाहिए
अन्यथा,
वह यात्रा नाम की है
यात्रा की शुरूआत अभी नहीं हुई है।''
कुंभ की ये पंक्तियाँ
बहुत ही जानदार
असरदार सिद्ध हुई।....

शब्दार्थ– ज्वलनशील अनल–जलाने वाली आग, साधक–साधना करने वाला।
संदर्भ एवं प्रसंग – प्रस्तुत पंक्तियाँ आचार्य विद्यासागर जी द्वारा रचित ''मूकमाटी'' महाकाव्य से ली गयी हैं। इन पंक्तियों में कवि ने उस समय का वर्णन किया है जबकि कुंभ (संयम साधना में नव–दीक्षित) से उसका प्रशिक्षक (कुंभकार) तप के कठोर नियम – पालन को आग की नदी पार करने जैसा कष्ट कारक और चुनौती भरा कार्य बतलाता है।

व्याख्या– अपने गुरू (कुंभकार) के उत्तर में कुंभ (संयम प्रशिक्षणार्थी) कहता है कि इच्छाओं को जीतने के लिए तप साधना करने वाले की नजर में जल और जलाने वाली आग में अंतर नहीं होता। वह दोनों को समान मानता है। उसकी दृष्टि बाहय न होकर आत्म की ओर होती है। मोक्ष की यात्रा वास्तव में अपने को आत्मा से भिन्न मानने की अवस्था से प्रारंभ होकर आत्मा से अभिन्न (आत्मा में पूर्णतः स्थित) होने तक की है। मैंने इस यात्रा का प्रारंभ किया है। अब मैं चाहता हूँ कि इस पथ से विचलित न होऊँ। अभी मैं शरीर इन्द्रियों के अनुभव – स्त्री वेद, पुरूष वेद, आदि में उलझा हूँ इनसे विलग शुद्ध आत्मा के ज्ञानानुभव (अवेद) की ओर मैं बढ़ना चाहता हूँ। कुंभ (संयम प्रशिक्षणार्थी) का यह कथन प्रभावशाली सिद्ध हुआ।

विशेष – इसमें साम्यभाव पर बल दिया गया है। यहाँ संयम साधना में नव दीक्षित में उत्पन्न आत्मज्ञान का बोध कराया गया है। भाषा सहज और प्रवाहपूर्ण है।

(53)

कुंभ का सुनाना प्रारंभ हुआ :
'स्व' को स्व के रूप में

'पर' को पर के रूप में
जानना ही सही ज्ञान है,
और
'स्व' रमण करना
सही ज्ञान का 'फल' ।
विषयों का रसिक
भोगों–उपभोगों का दास,
इन्द्रियों का चाकर
और....और क्या ?
तन और मन का गुलाम ही
पर–पदार्थों का स्वामी बनना चाहता है,
यही पाप है...
सब पापों का बाप !

शब्दार्थ – रसिक–रस होने वाला, दास–सेवक, बाप–पिता।

संदर्भ एवं प्रसंग – प्रस्तुत पंक्तियाँ आचार्य विद्यासागर जी द्वारा रचित ''मूकमाटी'' महाकाव्य से ली गयी हैं। इन पंक्तियों में में उस समय का वर्णन है जब कुंभ धन के त्यागी संयमी से श्रावक सेठ परिवार के लोभी पात्र ईर्ष्या करते हैं और कुंभ को निन्दात्मक वचन सुनाते हैं। उत्तर में कुंभ (संयमधारी जीव) स्फटिकधारी (सेठ परिवार का एक पात्र) को आत्मा, सम्यकज्ञान और पाप के बारे में बतलाता हुआ सही दिशा में सोचने का आग्रह करता है।

व्याख्या – कुंभ कहता है कि अपनी आत्मा तथा पर पदार्थ को यथार्थ रूप में जानना ही सम्यक ज्ञान है। आत्मा से भिन्न पदार्थों में आसक्ति को छोड़कर निज आत्मा का अनुभव करते रहना ही सम्यक ज्ञान का फल है। आत्मानुभूति में लीन हुए बिना यदि कोई कहे कि मैंने आत्मा का ज्ञान प्राप्त कर लिया है तो यह कहना गलत होगा। वास्तविक आत्म ज्ञान का अर्थ आत्मा की अनुभूति करना उसके अनंत ज्ञान – अनंत आनंद रूप में लीन हो जाना है। आत्मा में रमण किये बगैर आत्मतत्व की जानकारी का दावा करना व्यर्थ है। जो लोग इन्द्रियों की इच्छाओं के अधीन क्रियायें करते रहते हैं, जो शरीर और मन की गुलामी करते हैं, अर्थात तन और मन की आवश्यकताओं की पूर्ति में ही लगे रहते हैं। वे पर–पदार्थो पर अधिकार करने की इच्छा रखने लगते हैं। वे ही धन–संचय आदि का परिग्रह इकट्टा करते हैं। मनुष्य की यही प्रवृत्ति अर्थात आत्मा से भिन्न पदार्थों को सुखकारक मानना और उनका संचय करने इच्छा सभी पापों को जन्म देने वाला पिता कहा जा सकता है।

विशेष –यहाँ संयमधारी जीव द्वारा आत्मज्ञान, पाप निवृत्ति आदि के बारे में बताने का उल्लेख है। वह अनंत आनन्द रूप में लीन हो जाने को अनंत ज्ञान की संज्ञा देता है। कवि ने 'स्व'

और 'पर' को बडी सरल भाषा में समझाने का प्रयास किया है जिससे कवि प्रतिभा का बोध होता है।

(54)

इस भाँति,
कुम्भ और अन्य पात्रों के बीच
वाद–विवाद होता गया,
संवाद की बात गौण हुई
क्रम–क्रम से
प्रायः सब पात्रों ने
माटी के पात्र को
उपहास का पात्र ही बनाया,
उसे मूल्यहीन समझा ।
प्रायः बहुमत का परिणाम
यही तो होता है,
पात्र भी अपात्र की कोटि में आता है फिर,
अपात्र की पूजा में पाप नहीं लगता।

शब्दार्थ – गौण–अप्रधान, उपहास–हंसी, मूल्यहीन–महत्वहीन, अपात्र–गलत व्यक्ति, पात्र–सुयोग्य व्यक्ति।

संदर्भ एवं प्रसंग–प्रस्तुत पंक्तियाँ आचार्य विद्यासागर जी द्वारा रचित ''मूकमाटी'' महाकाव्य से ली गयी हैं। इन पंक्तियों में कुंभ (तप–अभ्यासी संयमी व्यक्ति) के साथ सेठ परिवार के अन्य लोभी–भोगी पात्रों के कटु–वार्तालाप के परिणाम का चित्रण किया गया है।

व्याख्या –कवि के अनुसार कुंभ (संयमी व्यक्ति) और सेठ परिवार के लोभी–लालची वैभव समर्थक पात्रों की वार्ता में कुंभ अकेला पड़ गया तथा बहु संख्यक पात्र स्वर्णकलश (वैभव को महत्वपूर्ण तथा त्याग–तपस्या का उपहास करने वाले) के समर्थक हो गए। धन–वैभव को प्रमुखता देने वाले सभी पात्रों ने धन के त्यागी तपस्वी कुंभ (संयमी व्यक्ति) को उपहास का पात्र बनाया। उसकी योग्यता को मूल्यहीन समझा। कवि के अनुसार जब बहुमत निर्णायक शक्ति बन जाता है तो अल्पमत में रहने वाला कितना ही श्रेष्ठ क्यों न हो, वह मजाक का पात्र बन जाता है। लोग गलत व्यक्ति (अपात्र) को भी सम्मान पूजा अर्पित करते दिखाई देते हैं।

विशेष – यहाँ संयमी और लोभी–भोगी व्यक्तियों की कटुवार्ता प्रकाशित की गई है जिसमें ज्ञानी उपहास का पात्र बन जाता है क्योंकि बाहुल्य वैभवशाली व्यक्तियों का होता है। कवि के विचारों में अनुभव और गहन चिंतन दिखाई देता है।

(55)

इस बात को मैं मानता हूँ कि
जीवनोपयोगी कुछ पदार्थ होते हैं,
गृह–गृहणीघत–घटादिक
उनका ग्रहण होता ही है
इसीलिए सन्तों ने
पाणिग्रहण संस्कार को
धार्मिक संस्कृति का
संरक्षक एवं उन्नायक माना है।
परन्तु खेद है कि
लोभी पापी मानव
पाणिग्रहण को भी
प्राण–ग्रहण का रूप देते हैं।

शब्दार्थ –गृह–घर, गृहिणी– पत्नी, पाणिग्रहण संस्कार– विवाह, संरक्षक–रक्षा करने वाला, उन्नायक–उन्नति करने वाला, प्राण–ग्रहण–प्राण हरने वाला।

संदर्भ एवं प्रसंग– प्रस्तुत पंक्तियाँ आचार्य विद्यासागर जी द्वारा रचित ''मूकमाटी'' महाकाव्य से उद्घृत है। इन पंक्तियों में उस समय का वर्णन है जब धर्म निष्ठ श्रावक सेठ बुखार से पीड़ित हो जाता है। उसके तप्त शरीर के आस–पास रक्त चूसने वाले खटमल और मच्छर आते हैं। लेकिन तेज बुखार के ताप से वे दूर से ही भाग जाते हैं। कवि ने खटमल और मच्छर का मानवीकरण अलंकार के माध्यम से काल्पनिक–वार्ता को सुना। उसका वर्णन इन पंक्तियों में किया गया है।

व्याख्या– खटमल अपने मित्र मच्छर से मनुष्य की परिग्रह वृत्ति (धन संचय की आदत) का वर्णन करते हुए कहता है कि मैं इस बात को भली भांति जानता हूँ कि जीवन चलाने के लिए मनुष्य को कुछ पदार्थ आवश्यक होते हैं जैसे घर, गृहणी, बर्तन, घी आदि। उनका सामान्य रूप से गृहस्थ लोगों द्वारा ग्रहण होता है। घर गृहस्थी चलाने के लिए पत्नि की जरूरत होती है। इसलिए संत लोगों ने भी पाणिग्रहण (विवाह) –संस्कार को भी धार्मिक संस्कृति के अंतर्गत रखा है और संस्कृति का उन्नायक संस्कार माना है। परंतु खेद की बात है कि मानव समाज के कुछ अतिलोभी व्यक्तियों ने दहेज प्रथा के माध्यम से इस पाणिग्रहण (विवाह) संस्कार को भी प्राण लेने वाली क्रूर प्रथा बना दिया है।

विशेष – इसमें पाणिग्रहण संस्कार की महत्ता और उपदेपता को समझाया गया है किंतु दहेज प्रथा की निंदा की गई है। संस्कृत निष्ठ भाषा और उपदेशात्मक शैली का प्रयोग मानव मन को छूने में सहायक है।

(56)

वैसे
चिकित्सकों की दृष्टि वह
राशि की ओर कभी मुड़ती ही नहीं,
मुड़नी भी नहीं चाहिए,
मर्यादा में जीती–सुशीला
कुलीन–कन्या की मति–सी,
फिर भी
कलियुग का अपना प्रभाव भी तो है
जीवन लक्ष्य की ओर बढ़ नहीं पाता
यदि बढ़ भी जाय
दृढ़ रह नहीं पाता।
सुन भी रहे
देख भी तो रहे कि
सकल–कलाओं का प्रयोजन बना है
केवल
अर्थ का आकलन–संकलन।
आजीविका से, छी...छी...
जीभिका–सी गन्ध आ रही है,
नासा अभ्यस्त हो चुकी है
और
इस विषय में, खेद है –
आँखें कुछ कहती नही।

शब्दार्थ –कुलीन–कन्या–अच्छेकुल की लड़की, मति–बुद्धि, प्रयोजन–उददेश्य, संकलन–इकठठा करना, नासा–नाक, जीभिका–जीभ।

संदर्भ एवं प्रसंग –प्रस्तुत पंक्तियाँ आचार्य विद्यासागर जी द्वारा रचित ''मूकमाटी'' महाकाव्य से उद्घृत हैं। इसमें चिकित्सकों की धन ऐंठने की प्रवृत्ति का विश्लेषण किया गया है।

व्याख्या– कवि कहता है किचिकित्सा एक सेवा का क्षेत्र है। यद्यपि इसके माध्यम से चिकित्सक धन भी कमाते हैं लेकिन चिकित्सकों की दृष्टि में धन कमाना प्रमुख लक्ष्य बन गया है जो नहीं होना चाहिये। जिस तरह कोई सुशीला कुलीन कन्या की मति धन लिप्सा से मुक्त होती है, इसी प्रकार चिकित्सक की दृष्टि में धन लिप्सा अधिक नहीं होना चाहिए। लेकिन आज कलियुग के प्रभाव से चिकित्सक भी धन के अधिक लालची हो गये हैं। कुछ चिकित्सक

धन लोभ से दूर रहने का संकल्प करते हैं लेकिन कलयुगीन परिस्थितियों के दबाव से वे अपने सद्संकल्प पर हढ़ नहीं रह पाते। वे भी देख रहे हैं, सुन रहे हैं कि आज सभी कलाओं का प्रयोजन (मुख्य लक्ष्य) अर्थ की ओर ध्यान देना, अर्थ का संग्रह करना हो गया है। अतः वे भी धन को प्रमुखता न देने के सद्संकल्प पर कायम नहीं रह पाते। धन लिप्सा को प्रमुख मानने वालों ऐसी आजीविका को धिक्कार है। ऐसी धन–लोभ पर आधारित जीविका कमाने की पद्धति से वैसी ही दुर्गंध आती है जैसी घृणित दुर्गंध जीभ पर जमें मैल से आती है। लेकिन लोभी लोगों को ऐसी दुर्गंधित जीविका का उपयोग करने में तनिक भी हिचक नहीं होती क्योंकि उनकी आदत अनुचित धन कमाने की पड़ गई है। उनकी नाक को भी दुर्गंधित जीविका सूंघने की आदत पड़ गई है और आँखें यह अनुचित कार्य देखती रहती हैं।

विशेष – इसमें आज के चिकित्सकों की धन लोलुपता तथा चिकित्सा के क्षेत्र में सेवा भावना का वर्णन किया गया है। यहां भावानुरूप भाषा, बिम्ब तथा उपमा लंकार का प्रयोग है। इसमें सामाजिक दोषों को दूर करने का प्रयास है।

(57)

यह बात निश्चित है कि
मान को टीस पहुँचने से ही,
आतंकवाद का अवतार होता है।
अति–पोषण या अतिशोषण का भी
यही परिणाम होता है,
तब
जीवन का लक्ष्य बनता है, शोध नहीं,
बदले का भाव....प्रतिशोध !
जो कि
महा–अज्ञानता है, दूरदर्शिता का अभाव
पर के लिए नहीं,
अपने लिए भी घातक !

शब्दार्थ –मान – सम्मान, टीस – ठेस, अतिशोषण – अत्यन्त दबाना, लक्ष्य – उद्देश्य, शोध – खोज, प्रतिशोध – बदला।

संदर्भ एवं प्रसंग – प्रस्तुत पद्यांश आचार्य विद्यासागर जी द्वारा रचित महाकाव्य ''मूकमाटी'' से उद्घृत है। इन पंक्तियों में उस समय का वर्णन किया गया है जब लोभी लालची व्यक्ति कुंभ परिग्रह त्यागी संयमी को दिये जाने वाले सम्मान को अपने सम्मान पर ठेस समझते हैं। वे सम्माननीय और सम्मान देने वाले को नष्ट करने के लिये आतंकवादी दल को आमंत्रित करते हैं। कवि ने इन पंक्तियों के माध्यम से आतंकवाद के जन्म स्थल एवं उसकी जड़ों को बतलाने का प्रयास भी किया है।

व्याख्या – कवि के अनुसार जब कुछ लोग बहुत तीव्रता से अपनी मान प्रतिष्ठा पर आघात अनुभव करते हैं, जब अनुचित साधनों एवं उनका उपयोग करने वालों की संख्या बढ़ जाती है, समाज में दूसरों के हकों का शोषण होने लगता है, उस समय भी यही स्थिति हो जाती है किन्तु दोनों परिस्थितियों में मान को ठेस लगने का अनुभव आतंकी प्रवृत्तियों को जन्म देता है। आतंकवाद की गतिविधियाँ (विरोधियों को बल पूर्वक नष्ट करने की प्रवृत्तियाँ) हर हाल में हानिकारक होती हैं। इसका कारण यह है कि आतंकवाद में जीवन का उद्देश्य सत्य या न्याय की खोज (शोध) न होकर विरोधी को हिंसा से नष्ट करने का प्रतिशोध लेने का होता है। इस प्रकार हिंसा द्वारा विरोधी को नष्अ करने की प्रवृत्ति महान अज्ञानता है। इसमें भविष्य में होने वाले बुरे प्रभावों पर दृष्टि नहीं जाती। आतंकवादी प्रवृत्तियाँ अर्थात हिंसा द्वारा विरोधी को नष्ट करने की पद्धति दूसरो को तो हानिकारक है ही किन्तु स्वयं के समाज के लिए भी नष्ट करने वाली है।

विशेष – इसमें बताया गया है कि किसी के मान–सम्मान पर आघात करने और किसी व्यक्ति के हाकें को छीनने पर आतंकवाद उत्पन्न होता है। यहाँ कवि का गंभीर चिन्तन प्रकाश में आया है।

(58)

झारी कहती है : ''हे स्वर्ण–कलश!
जो माँ–सत्ता की ओर बढ़ रहा है
समता की सीढ़ियाँ चढ़ रहा है
उसकी दृष्टि में
सोने की गिट्टी और मिट्टी
एक है
और है ऐसा ही तत्त्व !
अतः अवसर का लाभ लो

आग्रह की दृष्टि से मत देखो,

मान–यान से अब

नीचे उतर आओ तुम !

जो वर्धमान होकर मानातीत हैं

उनके पदों में प्रणिपात करो

अपार पाप–सागर से तर जाओ तुम !''

शब्दार्थ – समता –साम्यभाव, मान–यान–मान रूपी वाहन, मानातीत – सम्मान से परे, प्रणिपात – नमन, अपार – अनंत।

संदर्भ एवं प्रसंग – प्रस्तुत पद्यांश आचार्य विद्यासागर जी द्वारा रचित महाकाव्य ''मूकमाटी'' से उद्घृत है। इसमें कवि ने उस समय का वर्णन किया है जब धर्मनिष्ठ श्रावक परिवार का एक पात्र – स्फटिक झारी स्वयं के हृदय–परिवर्तन के पश्चात स्वर्णकलश (धन सम्पन्नता को ही सर्वोपरि मानने वाला व्यक्ति का प्रतीक) को समझाकर सन्मार्ग पर लाना चाहती है।

व्याख्या – स्फटिक झारी कहती है कि हे स्वर्णकलश तुम कुंभ (तपोनिष्ठ व्यक्ति) तथा उससे श्रद्धा–प्रेम रखने वाले श्रावक सेठ को नष्ञ करने की योजना बना रहे हो जो आत्मा रूपी मां–सत्ता के उपासक हैं। यह लोग राग और द्वेष के पाप पूर्ण मनोभावों को जीतकर समता (क्रोध–मान–माया लोभ रहित मनोदशा) प्राप्त करने की साधना की सीढ़ी पर चढ़ रहे हैं। उनकी दृष्टि में सोने की गिट्टी हो और मिट्टी एक समान है। अर्थात न तो वे सोने की गिट्टी का लालच करते हैं और न मिट्टी का अपमान करते हैं। इसलिए इनकी संगति से अच्छे संस्कारों का लाभ लो। तुमने जो जिद पकडी है उस हठवादी दृष्टि से इन्हें घृणा की दृष्टि से मत देखो। तुममें अपने को सर्वश्रेष्ठ समझने का भाव (मान) पनप गया है। इस मान रूपी ऊपर उड़ने वाले वाहन से नीचे उतरकर विनय की दृष्टि से इन्हें देखो।

अनंत शक्ति धारण करने के बाद भी अपने को सर्वश्रेष्ठ नहीं मानते ऐसे वर्धमान प्रभू के चरणों में तुम भी नमन करो। इस भक्ति भावना के बल पर तुम भी पाप रूी समुद्र को पार कर लोगे। अर्थात तुम्हारे पाप छूट जायेंगे और तुम्हारा भी उद्धार हो जायेगा। तुम भी अनंत सुख दशा प्राप्त कर लोगे।

विशेष –इसमें धन और स्वर्ण को महत्व देने वाले व्यक्तियों के लिए शिक्षा है। उन्हें सत्संगति द्वारा सद्संस्कार प्राप्त करने चाहिए।

(59)

लो, झारी का प्रभाव कब पड़ना था

रौद्र–कर्मा, स्वर्ण–कलश पर !

सीता की बन्धन–मुक्ति को ले

अमन्द–मति मन्दोदरी का सम्बोधन

प्रभावक कहाँ रहा,

रावण का गारव लाघव कहाँ हुआ ?

प्रत्युत

उबलते तेल के कढ़ाव में

शीतल जल की चार–पाँच बूँदें गिरी–सी

स्वर्ण–कलश की स्थिति हो आई।

अनियन्त्रित क्षोभ का भीषण–दर्शन !

शब्दार्थ – अमन्द – मति –थोडी बुद्धिवाली, प्रभावक – प्रभावशाली, लाघव – कम, प्रत्युत – बल्कि, अनियन्त्रित – नियंत्रण रहित, भीषण – भयंकर।

संदर्भ एवं प्रसंग – प्रस्तुत पद्यांश आचार्य विद्यासागर जी द्वारा रचित महाकाव्य ''मूकमाटी'' से उद्घृत है। इसमें कवि ने उस समय का वर्णन है जब धर्मनिष्ठ कुंभ (तप साधना प्रशिक्षित व्यक्ति) तथा श्रावक सेठ परिवार के विरूद्ध स्वर्णकलश (श्रावक सेठ का ही एकलोभी–दंभी अधिकारी) षड़यंत्र करता है। स्वर्णकलश के अधीन कार्य करने वाली स्फटिक झारी स्वर्णकलश को समझाकर न्याय प्रियता की ओर मुड़ने के लिए समझाती है किन्तु उसका कोई प्रभाव लोभी–दंभी स्वर्णकलश पर नहीं पड़ता।

व्याख्या –कवि वर्णन करता है कि स्फटिकझारी के समझाने का कोई प्रभाव षड़यंत्रकारी स्वर्णकलश पर नहीं पड़ता। भाव से संचालित था। जिस तरह सीता को मुक्त करने के लिए मंदोदरी ने रावण को समझाया था। लेकिन रावण चूंकि पूरी तरह विपरीत बुद्धि कका हो गया था। क्रोध अहंकार मानदंभ से प्रेरित था। अतः मंदोदरी के अच्छे उपदेशों का कोई प्रभाव उसपर नहीं पड़ा। रावण में घमंड था। अतः मंदोदरी की उचित बात से भी उसका घमंड कम नहीं हुआ। उल्टे उसका क्रोध उसी प्रकार और बढ़ गया था जैंसे उबलते तेल के कढ़ाहे में चार–पांच बूंदे ठंडे पानी की डालने पर होता है। इसी तरह स्फटिक की झारी ने जब स्वर्णकलश को समझाया तो उसका क्रोध घटने के बजाय और बढ़ गया। घमंडी स्वर्णकलश अपने क्रोध को और भी बेलगाम होकर प्रगट करने लगा।

विशेष – इसमें स्वर्णकलश (लोभी और दम्मी अधिकारी) के षडयंत्र का वर्णन है जो अत्यन्त प्रिय है। कवि की दृष्टि में ऐसे व्यक्ति अपना अहित करते है। यहाँ उपमालंकार तथा सभक्षिक पदावली का प्रयोग है।

(60)

''अरे देहिन् !

द्युति–दीप्त–संपुष्ट देह

जीवन का ध्येय नहीं है,

देह–नेह करने से ही

आज तक तुझे

विदेह–पद उपलब्ध नहीं हुआ।

शब्दार्थ – देहिन – देहधारी, द्युति – कान्ति, दीप्त – प्रकाशित, ध्येय – लक्ष्य, विदेहपद – शाश्वत सुख।

संदर्भ एवं प्रसंग – प्रस्तुत पद्यांश आचार्य विद्यासागर जी द्वारा रचित महाकाव्य ''मूकमाटी'' से उद्घृत है। इसमें कवि ने उस समय का वर्णन है जब आतंकवादी दल धर्मनिष्ठ कुंभ एवं श्रावक सेठ परिवार पर आक्रमण करने के लिए घेर रहे हैं और उनकी रक्षा करने के लिए एक हाथियों का समूह (अच्छे लोगों का समूह) रक्षा के लिए आ गया है। वे सोचते हैं कि अधिकतर यह देखा गया है कि संसार में लोग अपने शरीर बल को दया–भाव को दमन करके बढ़ाते हैं।

व्याख्या – संत कहते हैं कि हे देह धारी प्राणियों। जीवन का उद्देश्य केवल शरीर की दीप्ति बढ़ाना, शरीर–बल बढ़ाना, शरीर–बल बढ़ाना नहीं है। मात्र अपने शरीर से ही प्रेम रखने का कारण और आत्मा की शक्ति न बढ़ाने का ही यह परिणाम है कि कई जन्मों के बाद भी तुझे विदेह–पद (शाश्वत – सुख दशा) की प्राप्ति नहीं हुई।

विशेष – इसमें शरीर की दीप्ति और बल बढ़ाने को श्रेष्ठ नहीं माना गया है, वरन् आत्मा की शक्ति की वृद्धि को हितकारी बताया गया है। संस्कृत निष्ठ भाषा तथा सामासिक पदों का प्रयोग भावोत्कर्षक है।

(61)

''संहार की बात मत करो,

संघर्ष करते जाओ !

हार की बात मत करो,

उत्कर्ष करते जाओ !

और ....सुनो !

घातक–घायल डाल पर

रसाल–फल लगता नहीं,

लग भी जाय

पकता नहीं,

और

काल पाकर

पक भी जाय तो.....

भोक्ता को स्वाद नहीं आयेगा

उस रसाल का !

विकृत–परिसर जो रहा !''

शब्दार्थ – संहार – विनाश, हत्या, उत्कर्ष – उन्नति, रमाल – फल – आम, काल – समय, भोक्ता – भोग करने वाले, विकृत – विपरीत।

संदर्भ एवं प्रसंग –प्रस्तुत पद्यांश आचार्य विद्यासागर जी द्वारा रचित महाकाव्य ''मूकमाटी'' से उद्घृत है। इसमें उस समय का वर्णन है जब हाथियों का समूह (सात्विक प्रकृति वाले शक्तिशाली लोगों का समूह) हिंसक आतंकवादियों को खदेड़ता है।

व्याख्या – उनका नेता अपने समूह को समझाता है कि रक्षा के लिए संघर्ष तो करना है लेकिन किसी की हत्या नहीं करना है। बल का इस तरह उपयोग करो कि न्याय पक्ष की पराजय भी न हो लेकिन जीवन मूल्यों में उत्कर्ष हो, गिरावट न आये। यदि हम हिंसक युद्ध लड़ेंगे तो यह उसी तरह होगा जैसे बीमार–घातक डाल पर कोई रसीले आमों के फल प्राप्ति की आशा करे। घातक डालों पर आम के फल लगते ही नहीं। यदि लग भी जाये तो उनमें रस (आनंद–दायी गुण) नहीं आ पाता। यदि समय पाकर उन्हें पका भी दिया जाये तो उस में स्वाद नहीं आता। इसी प्रकार हिंसा का सहारा लेकर मनुष्य को आनंद देने वाले परिणाम नहीं मिलते। कुछ समय तक सफलता का आभास अवश्य मिलता है लेकिन वह सफलता सुख शांति प्रदायक नहीं होती।

विशेष – इसमें बिना संहार रक्षा तथा बिना हार जीत की बात कही गयी है। उत्कर्ष ही जीवन का लक्ष्य होना चाहिए। भाषा सरल और प्रवाहपूर्ण है। लयात्मक सर्वत्र दिखाई देती है। अनुप्रासिकता और प्रतीकात्मकता काव्योत्कर्षक है।

(62)

युगों–युगों का इतिहास
इस बात का साक्षी है कि
इस वंश–परम्परा ने
आज तक किसी कारणवश
किसी जीवन पर भी
पद नहीं रखा, कुचला नहीं.....
अपद जो रहे हम !
यही कारण है कि सन्तों ने
बहुत सोच–समझ कर
हमारा सार्थक नामकरण किया है
'उरग'

शब्दार्थ – साक्षी–प्रमाण, अपद–बिना पैर, उरग– सर्प का पर्यायवाचीसार्थक–अर्थ सहित।

संदर्भ एवं प्रसंग – प्रस्तुत पंक्तियाँ आचार्य विद्यासागर जी द्वारा रचित ''मूकमाटी'' महाकाव्य से उद्घृत हैं। इसमें उस समय का वर्णन है जब आतंकवादी हिंसा से बचने के लिए श्रावक सेठ परिवार कुंभ (तपोनिष्ठ मोक्षार्थी) के साथ एक जंगल में चले गए हैं। मार्ग में गजदल और सर्प समाज उनकी रक्षा को आ जाते हैं।

व्याख्या – सर्प समाज का एक प्रतिनिधि युगल आतंकी शक्तियों को ललकारकर कहता है कि यद्यपि हमारे समाज को युगों–युगों पुराना इतिहास यह बतलाता है कि हमारी वंश परम्परा में अकारण ही किसी के जीवन को कुचलने का रिवाज नहीं है। हम इसीलिए अपद कहलाते हैं। हमारे पैर नहीं इसलिए संतों ने हमारा नाम उरग भी रखा है। उरग का अर्थ होता है कि यदि कोई हमें कुचलना चाहे तो हम उसे छोडते नहीं हैं।

विशेष – इसमें सर्प समाज की हितकारी प्रकृति को दर्शाया गया है जो अकारण किसी को सताता नहीं। उरग शब्द के सार्थक नामकरण का उल्लेख है।

(63)

पद वाले ही पदोपलब्धि हेतु
पद को पद–दलित करते हैं,
पाप–पाखण्ड करते हैं।

प्रभु से प्रार्थना है कि
अपद ही बने रहें हम !
जितने भी पद हैं
वह विपदाओं के आस्पद हैं,
पद–लिप्सा का विषधर वह
भविष्य में भी हमें न सूँघे
बस यही भावना है, विभो !

शब्दार्थ –पदोपलब्धि – पद – प्राप्ति, पर – दूसरों, अपद – बिना पैरों वाले, विपदाओं के आस्पद – संकटों के आमंत्रक, पदलिप्सा – पद का लालच।

संदर्भ एवं प्रसंग – प्रस्तुत पंक्तियाँ आचार्य विद्यासागर जी द्वारा रचित ''मूकमाटी'' महाकाव्य से उद्घृत हैं। इसमें उस समय का वर्णन है जब अहिंसक श्रावक परिवार तपोनिष्ठ कुंभ की हत्या करने के लिए स्वर्णकलश (लोभी दंभी व्यक्ति) द्वारा भेजे गए आतंकवादी दल से रक्षा करने के लिए सर्प समाज (आदिवासी लोगों का समूह) आ जाता है।

व्याख्या – सर्प समाज (आदिवासियों का समूह) अपने आशय कोबतलाते हुए कहता है कि हमारे पास पद नहीं है किंतु इस कारण हमें पिछड़ा न माना जाये। हमने देखा है कि पद धारण करने वाले लोग अधिकांशतः पद प्राप्त करने के लिए दूसरों के अधिकारों को कुचलते हैं। उन पर अत्याचार करते हैं। तरह–तरह के पाप–पूर्ण उपायों को अपनाते हैं। ऊपर से सेवा का ढोंग करते हैं लेकिन छुपकर अनुचित अन्याय पूर्ण कार्य करते हैं। मेरी प्रभू से यही प्रार्थना है कि हम बिना पद के ही न्याय मार्ग पर चलते रहें। प्रतिष्ठित पदों पर जाने के लिए ऐसे कार्य संकटों को बुलावा देते हैं। पद–लिप्सा (पद पाने की इच्छा या लालच) आत्मा का घात करने वाले जहर के समान है। हम चाहते हैं कि भविष्य में कभी भी हमें पद के लालच का विषैला सांप न सूंघे। पद के लालच में व्यक्ति बिना मौत मर जाता है। इसलिये हे विभो ! हमें पद के लालच से दूर रख।

विशेष – यहाँ सर्प समाज (आदिवास लोगों का समूह) की मनोभावना का वर्णन है जो न्याय मार्ग का अनुयायी है। इसमें सामाजिक शब्दावली का प्रयोग है तथा तत्सम शब्दों का अपनाया गया है।

(64)

यहाँ बन्धन रूचता किसे ?
मुझे भी प्रिय है स्वतंत्रता
तभी....तो...
किसी के भी बंधन में
बँधना नहीं चाहता मैं,

न ही किसी को
बाँधना चाहता हूँ।
जानते हम,
बाँधना भी तो बन्धन है।
तथापि
स्वच्छन्दता से स्वयं
बचना चाहता हूँ
बचता हूँ यथा–शक्य

शब्दार्थ – रूचता नहीं–अच्छा नहीं लगता, स्वच्छन्दता–स्वतंत्रता, यथाशक्य–शक्ति के अनुरूप।

संदर्भ एवं प्रसंग– प्रस्तुत पंक्तियाँ आचार्य विद्यासागर जी द्वारा रचित ''मूकमाटी'' महाकाव्य से उद्घृत हैं। इसमें उस समय का वर्णन है जब आतंकवादी दल द्वारा मंत्र शक्ति का उपयोग कर भीषण वर्षा करवायी जाती है और नदी में बाढ़ आ जाती है। कुंभ धर्मनिष्ठ श्रावक परिवार को बचाने के लिए एक रस्सी से स्वयं को 'साथ ही परिवार को बांधने की सलाह देता है।

व्याख्या –कुंभ बंधन में बंधने के संबंध में अपनी सफाई देते हुए कहता है कि यद्यपि मुझे भी स्वतंत्रता प्रिय है। मैं भी किसी बंधन में नहीं बंधना चाहता और न ही किसी को बंधन में बांधना चाहता हूँ तो भी मैं अनियंत्रित स्वच्छंदता या अनुशासनहीन जीवन का पक्षधर नहीं हूँ। मैं स्वयं को अनुशासनहीनता (स्वच्छंदता) से बचाना चाहता हूँ तथा औरों को भी इसके लिए मैं यथाशक्ति कुछ नियमों के बंधन में अपने को बाँधना पसंद करता हूँ तथा अपने संपर्क में आये लोगों को भी आत्मानुशासन के नियमों में बांधता हूँ ताकि वे पाप–प्रवृत्तियों के बहाव में बह न जायें।

विशेष – इसमें कवि ने किसी को बंधन में बाँधने और स्वयं न बंधने की सलाह दी है किंतु उसकी दृष्टि में नियमों के बंधन में बंधना हितकर है। भाषा सरल एवं बोधगम्य है।

(65)

यदि तुम्हें
धरा का आधार नहीं मिलता
तुम्हारी गति कौन–सी होती !
पाताल को भी पार कर जातीं तुम !
धरती ने तुम्हें स्वीकारा
छाती से चिपकाया है तुम्हें
देवों ने तुम पर दया नहीं की,
आकाश ने शरण नहीं दी तुम्हें,
तुम छोटी थी तब

गिरि की चोटी पर गिरी थी
सब हँसे थे
तुम रोयी थीं तब!
चोट लगी थी घनी तुम्हें,
तरला–सरला–सी लगती थी
गरला–कुटिला बन गई अब !

शब्दार्थ– धरा–पृथ्वी, गिरी–पर्वत, घनी–गहरी, गरला–विषमयी, कुटिला–छलकपट।

संदर्भ एवं प्रसंग– प्रस्तुत पंक्तियाँ आचार्य विद्यासागर जी द्वारा रचित ''मूकमाटी'' महाकाव्य से उद्घृत हैं। इसमें उस समय का वर्णन है जब जड़ पदार्थों को सर्वोपरि मानने वाले ज्ञान की नदी का प्रवाह कुंभ (संयम प्रशिक्षित व्यक्ति) और उसके मार्गदर्शन में चलने वाले श्रावक सेठ परिवार के लोगों को बहाव से बचाने की कोशिश कर रहे हैं।

व्याख्या – धर्मनिष्ठ सेठ मिथ्याज्ञान के आवेग में बहते जन–प्रवाह को समझाते हुए कहता है कि धरा का (आत्म–धर्म) का आधार किसी भी ज्ञान धारा को नहीं मिलता तो भटके जनमत की क्या हालत होती। फिर तो समस्त मिथ्या ज्ञान अनुयायी नर्क ही चले जाते। आत्मधर्म की धरती का आधार पाने के कारण ज्ञान–प्रवाह की नदी आगे बढ़ सकती है। मिथ्या ज्ञान की नदी तो नर्क की यातना ही देती। आत्मा की धरती द्वारा प्रेम दिये जाने के कारण नदी का अस्तित्व है। देव या आकाश ज्ञान–प्रवाह को कहां शरण देते हैं। हे ज्ञान प्रवाह रूपी नदी जब तुम छोटी थीं तब सभी तुम्हारी हंसी उड़ाते थे। तुम्हारे दुख में कोई साथ नहीं देता था। उस समय तुममें कुटिलता भी नहीं आयी थी किंतु अब ज्ञान प्रवाह की नदी में कुटिलता (छलकपट) आ गयी है। वह विष जैसी मृत्यु कारक भी हो गई है। आजकल ज्ञानधारा में छल कपट ही बलशाली माना जाता है। सब लोगों की उपेक्षा करके आज छलकपट से पूर्ण ज्ञान की नदी पापों का संपादन कर रही है।

विशेष – इसमें ज्ञान प्रवाह की नदी में आपे विकारों का उल्लेख है। वर्तमान में ज्ञान धारा में छलकपट का प्रवेश दुखद है। यहाँ लाक्षणिक प्रयोग भावोत्कर्षक है। भाषा सहज – प्रवाहपूर्ण है।

(66)

जिन्हें डुबोने के लिए कहते हो
उनके अभाव में यहाँ
अभाव के सिवा, बस
शेष कुछ भी नहीं मिलेगा।
तरवार के अभाव में
म्यान का मूल्य ही क्या ?

भोक्ता के अभाव में
भोग–सामग्री से क्या ?
जो कुछ है धरती की शोभा
इन से ही है
और, इन जैसे सेवाकार्य–रतों से।

शब्दार्थ –भोक्ता – भोग करने वाले, सेवा कार्यरत – सेवा कार्य में लगने वाले।

संदर्भ एवं प्रसंग – प्रस्तुत पंक्तियाँ आचार्य विद्यासागर जी द्वारा रचित ''मूकमाटी'' महाकाव्य से ली गयी हैं। इस पद्यांश में उस समय का वर्णन है जब जनमत की नदी की प्रकृति में बदलाव आ जाता है। वह जड़ाशय से सदाशय की पक्षघर बनकर आतंकवाद विरोधी हो जाती है। अब वह धर्मनिष्ठ श्रावक सेठ परिवार एवं कुंभ (संयम की ओर बढ़ते व्यक्ति) को डुबाना नहीं चाहती बल्कि उनकी मदद करना चाहती है और आतंकी दल को पराजित करना चाहती है।

व्याख्या – आतंकियों की प्रार्थना को ठुकराते हुए जनमत की नदी कहती है कि तुम जिन लोगों को डुबो देने की बात करते हो ऐंसे श्रेष्ठ लोगों की अनुपस्थिति में सुख शांति नष्ट हो जायेगी। जिस तरह तलवार के अभाव में म्यान का मूल्य नहीं उसी तरह धर्मनिष्ठ लोगों के अभाव में सामाजिक जीवन का कोई मूल्य नहीं। जिस तरह संसार की सुख–सामग्री तब तक किसी काम की नहीं होती जब तक उनको भोगने वाले न हो. इसी प्रकार श्रेष्ठ गुणी जनों के अभाव में संसार सूना हो जायेगा। समाजसेवा और धर्म सेवा में लगे व्यक्तियों के कारण ही आत्म धर्म की शोभा है। ऐसे ही सेवा में लगे लोग समाज और धर्म की शोभा बढाते हैं।

विशेष : इसमें जड़ाशय से सदाशय की ओर उन्मुख जनमत की नदी के स्वभाव का वर्णन है। यह आतंकवाद का विरोध करती है।

(67)

नदी ने कहा तुरन्त,
''उतावली मत करो !
सत्य का आत्म समर्पण
और वह भी
असत्य के सामने ?
हे भगवन् !
यह कैसा काल आ गया,
क्या असत्य शासक बनेगा अब ?
क्या सत्य शासित होगा ?
हाय रे जौहरी के हाट में
आज हीरक–हार की हार !

हार रे, काँच की चकाचौंध में
मरी जा रही– हीरे की झगमगाहट!

शब्दार्थ – उतावली–जल्दी, असत्य–झूठ, काल–समय, हाट–बाजार, हीरक–हार–हीरे का हार, हार–पराजय।

संदर्भ एवं प्रसंग – प्रस्तुत पंक्तियाँ आचार्य विद्यासागर जी द्वारा रचित ''मूकमाटी'' महाकाव्य से उदघृत हैं। इसमें उस समय का वर्णन है जब आतंकवादी दल की डरावनी धमकियों के कारण धर्म निष्ठ श्रावक परिवार प्राण बचाने के लिए आत्म समर्पण का विचार बनाता है।

व्याख्या – जनमत की नदी धर्मनिष्ठ श्रावक से कहती है कि आत्म–समर्पण के बारे में जल्दी मत करों तुम लोग सत्य मार्ग पर हो। सतपथ पर चलने वालों को असत्य बेईमानों के आगे समर्पण करना पड़े, हे ईश्वर यह कैसा प्रतिकूल समय आ गया है। यदि इन सत्य निष्ठ लोगों ने दुष्ट शक्तियों आतंकी दल के सामने आत्म समर्पण कर दिया तो क्या यह उचित होगा। हे ईश्वर ! क्या अब सत्य को असत्य (बेईमान) के आदेशों पर चलना पड़ेगा। हाय ! ईश्वर क्या जवाहरात (जौहरी) के बाजार में हीरों का हार कांच की चकाचौंध में हार जायेगा और उसे काँच से कम कीमत वाला माना जावेगा। हे प्रभु ! यह कैसा समय आ गया है कि काँच के आगे उसके नकली सौन्दर्य के आगे हीरों का कोई मूल्य नहीं आंका जावेगा।

विशेष – कवि का मत है कि सत्यनिष्ठ व्यक्तियों को असत्यवादियों के सम्मुख झुकना नहीं चाहिए। इसमें अनुप्रास और यमक अलंकार तथा लक्षणा शक्ति का सफल प्रयोग मिलता है।

(68)

संकटों से घिरे हुए हैं,
चाहों तो... अब बचा लो,
कंटकों से छिले हुए हैं
चाहों तो .. फूल बिछाओ,
हम तो... अपराधी हैं
चाहते अपरा 'धी' हैं
सच्चा सो पथ बताओ
अधिक समय ना बिताओ।
सन्तान की प्रकृति शैतानी है,
फिर भी सन्तान पर
माँ की कृपा होती ही है
सन्तान हो या सन्तानेतर
यातना देना, सताना
माँ की सत्ता को स्वीकार कब था

....हमें बताना !''

शब्दार्थ – कंटक – काँटे, धी–बुद्धि, यातना–पीड़ा।

संदर्भ एवं प्रसंग – प्रस्तुत पंक्तियाँ आचार्य विद्यासागर जी द्वारा रचित ''मूकमाटी'' महाकाव्य से उदधृत हैं। इसमें उस समय का वर्णन है जब आतंकवादी दल संकटों से घिरकर कुंभ (संयम–मार्गी) व्यक्ति तथा धर्मनिष्ठ श्रावक परिवार के समक्ष क्षमा याचना करता है।

व्याख्या – आतंकी दल श्रावक परिवार से प्रार्थना करते हुए कहता है कि हम संकटों से घिर गए हैं। अब आप ही हमें बचा सकते हो। हमारे चारों तरफ मुसीबतों के कांटे बिछे हैं वे हमारे अंग प्रत्यंग में चुभ रहे हैं, आप ही अब उन्हें हटाकर फूल बिछा सकते हैं। अर्थात हमारी मुसीबतों को खत्म कर सुखदायक परिस्थितियाँ बना सकते हैं। हमने पाप और अन्याय करके आप लोगों का अंत करने की कोशिश की है। हम अपराध करने वाले हैं और चाहते हैं कि हमारी बुद्धि अब श्रेष्ठ हो जाय। अब आप हमें उचित सच्चा मार्ग बतलायें। अब अधिक समय प्रतीक्षा में न बितायें। वह आगे कहता है कि सन्तान स्वभाव से शैतान होती है फिर भी माँ कृपालु होती है। कभी भी माँ सन्तान को यातना नहीं देती। ऐसे ही हमको भी संकटों से उबारिये। सदमार्ग दिखाइये।

विशेष – इसमें संकटों से घिरे आतंकीदल के क्षमा याचना करने का वर्णन है। वह सदमार्ग पर चलने का इच्छुक है। यहाँ अन्त्यानुप्रांस तथा सरल भाषा का प्रयोग है।

(69)

'पर्त से केन्द्र की ओर
जब मति होने लगती है
अनर्थ से अर्थ की ओर
तब गति होने लगती है'
यूँ सोचता सेठ कहता है कि
''अधिक दीन–हीन मत बनो भाई,
जो हरा–भरा तरू है
फूलों–फलों–दलों को ले
पथिक की प्रतीक्षा में खडा है
उससे
थोडी–सी छाँव की मँगनी
क्या हँसी का कारण नहीं है ?

शब्दार्थ – पर्त – भोग वस्तुओं, मति–बुद्धि, अनर्थ– पाप पूर्णकार्य, तरू–वृक्ष, प्रतीक्षा–इन्तजार।

संदर्भ एवं प्रसंग– प्रस्तुत पंक्तियाँ आचार्य विद्यासागर जी द्वारा रचित ''मूकमाटी'' महाकाव्य से उदधृत हैं। इसमें उस समय का वर्णन है जब आतंकवादी दल को अपनी गलती का अहसास

होता है और वह कुंभ (संयमी) तथा साथी धर्म निष्ठ श्रावक परिवार से क्षमा याचना दीन होकर करता है। श्रावक सेठ आतंकवादी दल की क्षमा याचना सुनकार करूणार्द्र हो उठता है।

व्याख्या – कवि वर्णन करता है कि जब लोगों की दृष्टि या बुद्धि अपने शरीर और भोग वस्तुओं से हटकर आत्मा रूपी केन्द्र की ओर होती है तो अनर्थ अर्थात पाप पूर्ण कार्यों से हटकर आत्मा के सही प्रयोजन (अर्थ) की ओर हो जाती है। यही आतंकी दल के साथ घटित हो रहा है तभी वे हिंसात्मक आक्रमण की भावना से पीछा छुड़ाकर पश्चाताप कर रहे हैं और क्षमा–याचना कर रहे हैं। उनकी क्षमा याचना सुनते ही धर्मनिष्ठ सेठ आतंकवादी दल से कह उठता है कि अधिक दीन वचन कहने की आवश्यकता नहीं है। आप मेरे सगे भाई है। जिस तरह हरे भरे फल फूलों से लदे वृक्ष से किसी पथिक को छांव के लिये याचना की जरूरत नहीं पडती उसी प्रकार हमारे सामने भी प्राण बचाने के लिए दीन बनकर प्रार्थना की जरूरत नहीं। यह बात तो हमारे लिये हंसी का कारण बन जायेगी। जिस तरह छह प्रकार के रस स्वादिष्ट भोजन बनाने वाले के समक्ष आमंत्रित व्यक्ति को जल मांगने की जरूरत नहीं, उसी प्रकार आपको भी क्षमा मांगने, दीन बनने की जरूरत नहीं। हम आपकी रक्षा अवश्य करेंगे।

विशेष – यहाँ आतंकीदल की क्षमा याचना से प्रभावित श्रावक सेठ का वर्णन है जो करूणार्द्र होकर रक्षा का वचन देता है। लयात्मकता, भाषा की सरलता सहजता इसमें अवलोकनीय है। प्रतीकात्मक शैली का प्रयोग है।

(70)

"नहीं...नहीं
अयि विनयवति !
पर–हित–सम्पादिके !
तुम्हारी कृपा का परिणाम है यह
जो...
हम पार पा गये।
आज हमें
किस की क्या योग्यता है,
किस का कार्य–क्षेत्र
कहाँ तक है,
सही–सही ज्ञात हुआ।
केवल उपादान कारण ही
कार्य का जनक है–
यह मान्यता दोष–पूर्ण लगी,
निमित्त की कृपा भी अनिवार्य है।

हाँ ! हाँ ।

शब्दार्थ– विनयवति–विनम्र, परहित–सम्पादिके–दूसरों का हित करने वाली, जनक–जन्म देने वाला, उपादान कारण –साधन, उपाय निमित्त साधन– बाहय साधन।

संदर्भ एवं प्रसंग– प्रस्तुत पंक्तियाँ आचार्य विद्यासागर जी द्वारा रचित ''मूकमाटी'' महाकाव्य से उदधृत हैं। इसमें रस्सी के क्षमा याचना करने का वर्णन है।

व्याख्या – रस्सी से (नियमों के बंधन) कुंभ (मोक्षार्थी) एवं श्रावक सेठ का परिवार कहता है कि हे रस्सी ! तुम्हें कष्ट के लिए क्षमा मांगने की जरूरत नहीं क्योंकि तुमने तो दूसरों की भलाई का धर्म पालन (कर्तव्य निर्वाह)किया है। तुम्हारी कृपा के बिना हम उपसर्ग या कष्टों की नदी पार नहीं कर सकते थे। आज हमें इस बात काभान हुआ कि केवल उपादान कारणों (साधन या उपायों) से ही कष्ट निवारण नहीं होते बल्कि निमित्त साधन भी अनिवार्य होतेहैं। हे रस्सी अगर तुम्हारा सहयोग न मिला होता, तुम निमित्त साधन बनकर न आतीं तो हम संकट पर विजय प्राप्त नहीं कर सकते थे। आज हमें निमित्त साधन और उपादान की योग्यताओं का परिचय मिला और इस तथ्य की प्रामाणिक जानकारी मिली कि केवल उपादन कारण ही किसी कार्य का जनक नहीं है। उपादान कारण के साथ निमित्त साधन की कृपा भी अनिवार्य है।

विशेष – इसमें उपादान कारण और निमित्त साधन के महत्व को दर्शाया गया है। कवि की दृष्टि में किसी कार्य के लिए दोनों की अपेक्षा रहती है। यहाँ संस्कृत निष्ठ भाषा और प्रतीकों का प्रयोग है जिससे कवि के भाव बोधगम्य बन गये है।

(71)

उपादान–कारण ही
कार्य में ढलता है
यह अकाट्य नियम है,
किन्तु उसके ढलने में
निमित्त का सहयोग भी आवश्यक है,
इसे यूँ कहें तो और उत्तम होगा कि
उपादान का कोई यहाँ पर
पर–मित्र है...तो वह
निश्चय से निमित्त है
जो अपने मित्र का
निरन्तर नियमित रूप से
गन्तव्य तक साथ देता है।''

शब्दार्थ – अकाट्य–अटल, निरन्तर–लगातार, गन्तव्य– लक्ष्य।

संदर्भ एवं प्रसंग – प्रस्तुत पंक्तियाँ आचार्य विद्यासागर जी द्वारा रचित ''मूकमाटी'' महाकाव्य से उदधृत हैं। इसमें कवि ने उस समय का वर्णन किया है जब रस्सी कुंभ और श्रावक सेठ परिवार के सदस्यों से अपने निमित्त से हुए कष्टों के लिए क्षमा मांगती है।

व्याख्या – श्रावक सेठ रस्सी (निमित्त साधन) के समक्ष कृतज्ञता प्रगट करता हुआ कहता है कि यद्यपि यह सिद्धांत सही है कि उपादान कारण (स्वयं का पुरूषार्थ) ही परिणाम तक पहुँचाता है कि उपादान कारण को कार्य रूप लेने में निमित्त साधन (अन्य बाहय साधन) कासहयोग लेना भी आवश्यक होता है। दूसरे शब्दों में इस बात को इस ढंग से भी कहा जा सकताहै कि निमित्त साधन (उपादान कारण से भिन्न) अन्य सहायक कारण उपादान रूपी मित्र का तब तक साथ देता है जब तक कि वह मंजिल के आखिरी सिरे तक नहीं पहुंच जाता।

विशेष –यहाँ रस्सी के क्षमा याचना करने तथा कुंभ और श्रावक सेठ परिवार के कृतज्ञता प्रकट करने का वर्णन है। इसमें भाषा भावानुरूप है तथा लाक्षणिक प्रयोग काव्यात्कर्षक हैं।

(72)

फूली–फूली धरती कहती है –
''माँ सत्ता को प्रसन्नता है, बेटा
तुम्हारी उन्नति देख कर
मान–हारिणी प्रणति देखकर।
'पूत का लक्षण पालने में'
कहा था न बेटा, हमने
उस समय, जिस समय...
तुने मेरी आज्ञा का पालन किया
जो
कुम्भकार का संसर्ग किया
सो
सृजनशील जीवन का
आदिम सर्ग हुआ।
जिसका संसर्ग किया जाता है
उसके प्रति समर्पण भाव हो,
उसके चरणों में तुमने
जो
अहं का उत्सर्ग किया

सो
सृजनशील जीवन का
द्वितीय सर्ग हुआ।

शब्दार्थ– प्रणति–विनयशीलता, संसर्ग–साथ, संगति, आदिम–प्रारंभिक, उत्सर्ग–त्याग।

संदर्भ एवं प्रसंग– प्रस्तुत पद्यांश आचार्य विद्यासागर द्वारा रचित महाकाव्य ''मूकमाटी'' से उदधृत है। इसमें धरती रूपी माँ सत्ता माटी को मंगलकारी कुंभ में बदला देखकर प्रसन्नता प्रगट करती है।

व्याख्या– परिपक्व (तप साधक संयमी) कुंभ को संबोधितकरती हुई धरती मां सत्ता कहती है कि बेटा तुम्हारे व्यक्तित्व के विकास को दखकर मुझे प्रसन्नता है।मैंने तुम्हारे व्यक्तित्व में सबसे बड़ी विशेषता यह देखी है कि तुमने मान कषाय को जीत लिया है। उसी के परिणामस्वरूप विनयशीलता का भाव तुम्हारे व्यक्तित्व में झलक रहा है। हे बेटा! मैंने प्रारंभ में ही कहा था कि पूत के गुण पालने में दिख जाते हैं। वस्तुतः मैंने जब यह देखा था कि तुममें व्रतपालन की क्षमता है और तुम संस्कार–गुरू की आज्ञा का पालन करने में गंभीर हो तो मैंने यह समझ लिया था कि तुम्हारे व्यक्तित्व का विकास रूक नहीं सकता।

तुमने मेरी आज्ञा का पालन किया जो संस्कार गुरू (कुंभकार) की संगति का लाभ धैयपूर्वक उठाया। समर्पण भाव से गुरू की आज्ञा में चलना वास्तव में आत्म–उत्थान के सृजनशील जीवन का प्रारंभिक अध्याय कहा जा सकता है। इस प्रथम पाठ को तुमने सफलता पूर्वक ग्रहण किया। इसके बाद सृजनशील जीवन की अगली सीढ़ी पर चढ़ने के लिए यह आवश्यक होता है कि जिस गुरू की संगति समर्पण भाव से स्वीकार की है उसके चरणों में तुमने अहंकार के भाव का त्याग किया। अर्थात अपने को जड़ देह–मानना छोड़कर चेतन आत्मा को माना वास्तव में इस योग्यता को धारण करने वाला आध्यात्मिक जीवन निर्माण के द्वितीय चरण में पहुँचा माना जाता है।

विशेष – यहाँ धरती माँ के बेटा माटी के विकास को देखकर प्रसन्न होने का वर्णन है। इसमें संस्कृत निष्ठ भाषा तथा प्रतीकों का सफल प्रयोग है।

(73)

समर्पण के बाद समर्पित की
बड़ी–बड़ी परीक्षायें होती हैं
और ....सुनो !
खरी–खरी समीक्षायें होती हैं,
तुमने अग्नि–परीक्षा दी
उत्साह साहस के साथ
जो

सहन उपसर्ग किया,
सो
सृजन–शील जीवन का
तृतीय सर्ग हुआ।

शब्दार्थ –उपसर्ग – विघ्न बाधाओं कष्टों, सृजनशील – आध्यात्मिक, सर्ग – अध्याय, अग्नि परीक्षा – कठिन परीक्षा।

संदर्भ एवं प्रसंग – प्रस्तुत पद्यांश आचार्य विद्यासागर द्वारा रचित महाकाव्य ''मूकमाटी'' से उदधृत है। इसमें कुंभ (संयमी तप साधक) को देखकर धरती (आत्मा रूपी माँ) परिपक्व कुंभ से प्रसन्न होती है हि हे बेटा! तुमने संस्कार–गुरू के प्रति समर्पण करके उसकी शिक्षाओं का (व्रत–नियमों, तप–नियमों) का पालन किया। इसके कारण तुममें उपसर्ग (विघ्न बाधाओं कष्टों) को बिना राग द्वेष लाये सहने की योग्यता आई। इस योग्यता को आध्यात्मिक जीवन निर्माण का तृतीय अध्याय कहा जा सकताहै।

विशेष – इसमें कुंभ से प्रसन्न धरती (आत्मा रूपी माँ) का वर्णन है क्योंकि तपसाधक कुंभ ने व्रत–नियम आदि का पालन किया है। यहाँ समास और प्रतीकों का सुन्दर प्रयोग है।

(74)

परीक्षा के बाद
परिणाम निकलता ही है
पराश्रित–अनुस्वार, यानी
बिन्दु–मात्र वर्ण–जीवन को
तुमने ऊर्ध्वगामी उर्ध्वमुखी
जो
स्वाश्रित विसर्ग किया,
सो
सृजनशील जीवन का
अन्तिम सर्ग हुआ।

शब्दार्थ – पराश्रित–दूसरे का आश्रय, ऊर्ध्वगामी–ऊपर गमन करने वाला, स्वाश्रित–अपने आधीन, सर्ग–अध्याय।

संदर्भ एवं प्रसंग– प्रस्तुत पद्यांश आचार्य विद्यासागर द्वारा रचित महाकाव्य ''मूकमाटी'' से उदधृत है। इसमें उस समय का वर्णन है जब परिपक्व कुंभ (संयमी तप साधक) परीषह–उपसर्गों को (विघ्न बाधाओं और कष्टों की परिस्थितियों को) बिना राग द्वेष लाये सहन करने की योग्यता धारण करने का परिचय देता है।

व्याख्या –आत्म–सत्ता रूप मां धरती संयमी कुंभ को देखकर उसकी प्रगति की समीक्षा करती हुई कहती है कि हे कुंभ तुमने तप–अभ्यासी बनकर अपने अहंकार को नष्ट कर आत्मा को मोक्ष की ओर गमन करने की दिशा में सक्रिय कर लिया है। अब तुम्हें दूसरे के आश्रय की भी आवश्यकता नहीं है, तुम स्वावलंबी व्यक्तित्व से युक्त हो गए हो। जीवन की इस स्वाश्रित अवस्था की प्राप्ति इस बात की सूचक है। कि आत्मोद्धार की योग्यता से सम्पन्नजीवन (सृजनशील जीवन) की अंतिम कक्षा भी तुमने उत्तीर्ण कर ली है। अब मुझे लगता है कि मुक्ति के (वर्गातीत अपवर्ग) को प्राप्त करने की साधना में तुम दक्ष हो गए हो।

विशेष – इसमें आत्मसत्ता रूप धरती माँ संयमी कुंभ की प्रगति की समीक्षा करती है तथा उसे बोध कराती है कि अब उसने सृजन शील जीवन के अंतिम पड़ाव को पार कर लिया है। अर्थात वह मुक्ति के निकट पहुँच गया है। यहाँ संस्कृत निष्ठ भाषा तथा प्रतीकों का प्रयोग है।

(75)

समग्र संसार ही
दुःख से भरपूर है
यहाँ सुख है, पर वैषयिक
और वह भी क्षणिक !
यह...तो..अनुभूत हुआ हमें,
परन्तु
अक्षय सुख पर
विश्वास हो नहीं रहा,
हाँ हाँ !! यदि
अविनश्वर सुख पाने के बाद
आप स्वयं
उस सुख को हमें दिखा सको
या
उस विषय में
अपना अनुभव बता सको
...तो

शब्दार्थ – समग्र–संपूर्ण, वैषयिक–विषयों से भरा, क्षणिक–नश्वर, अक्षय–नष्ट न होने वाला, अविनश्वर–शाश्वत।

संदर्भ एवं प्रसंग– प्रस्तुत पद्यांश आचार्य विद्यासागर द्वारा रचित महाकाव्य ''मूकमाटी'' से उदधृत है। इसमें उस समय का वर्णन है जब हृदय परिवर्तन के पश्चात आतंकवादी दल

श्रमण साधु की शरण में पहुँचता है और शाश्वत सुख के बारे में प्रामाणिक जानकारी देने का अनुरोध करता है।

व्याख्या – वह कहता है कि हे स्वामिन ! सारा संसार दुख से भरा है। इस संसार में हम लोगों ने भी अनुभव किया है कि यहाँ पर केवल इन्द्रिय–भोग पर आधारित सुख ही उपलब्ध है यह सुख भी अल्प–समय का होता है। लेकिन आपने कभी नष्ट न होने वाले अर्थात शाश्वत सुख की चर्चा की है। उस शाश्वत सुख पर हमें विश्वास नहीं हो पा रहा है।यदि आपने कभी उस शाश्वत सुख का स्वयं अनुभव किया हो तो हमें उस सुख से परिचित करायें। हम चाहते हैं कि आप प्रत्यक्ष अनुभव के आधार पर शाश्वत–सुख के बारे में बतायें।

विशेष – इसमें आतंकवादी दल द्वारा शाश्वत सुख के बारे में जिज्ञासा प्रकट की गई है। यहाँ संस्कृत तत्सम शब्दों का प्रयोग भावोत्कर्षक है। भाषा सरल एवं बोधगम्य है।

(76)

दूसरी बात यह है कि
बन्धन–रूप तन,
मन और वचन का
आमूल मिट जाना ही
मोक्ष है
इसी की शुद्ध–दशा में
अविनश्वर सुख होता है
जिसे
प्राप्त होने के बाद,
यहाँ
संसार में आना कैसे सम्भव है
तुम ही बताओ !
दुग्ध का विकास होता है
फिर अन्त में
घृत का विलास होता है,
किन्तु
घृत का दुग्ध के रूप में
लौट आना सम्भव है क्या ?
तुम ही बताओ ?"

शब्दार्थ –आमूल – जड़ से, अविनश्वर – शाश्वत, दुग्ध –दूध, घृत–घी।

संदर्भ एवं प्रसंग– प्रस्तुत पद्यांश आचार्य विद्यासागर द्वारा रचित महाकाव्य ''मूकमाटी'' से उदधृत है। इसमें कवि ने उस समय का वर्णन किया है जब हृदय परिवर्तन हो जाने पर आतंकी दल श्रमण संत की शरण में जाकर शाश्वत सुख का परिचय निजी प्रत्यक्ष अनुभव के आधार पर देने का अनुरोध करता है।

व्याख्या – मुनि महाराज निजी अनुभव के आधार पर शाश्वत सुख बताने की असमर्थता प्रगट करते हुए कहते हैं कि मोक्ष अवस्था के बारे में प्रत्यक्ष अनुभव बताना असंभव है क्योंकि आत्मा के साथ बंधन के रूप में तन–मन–वचन से हमेशा के लिए छुटकारा हो जाना ही मोक्ष है। मोक्ष दशा में न तो तन का साथ रह जाता है न मन का साथ और न ही वचनावली रह जाती है।

ऐसी मोक्ष की दशा में शाश्वत सुख या अविनश्वर सुख प्राप्त होता है। लेकिन जब मोक्ष दशा में व्यक्ति तन–मन और वचन के साथ उपस्थित नहीं होता तो फिर किस माध्यम से शाश्वत सुख के बारे में बताया जा सकता है। ऐसा तो असंभव है। जैसे दूध से घी बन जाने के बाद घी का दूध के रूप में परिवर्तित होना संभव नहीं है वैसे ही मोक्ष प्राप्ति के बाद संसार में आना ही संभव नहीं तो संसार के लोगों को प्रत्यक्ष मोक्ष सुख कैंसे बताया जा सकता है।

विशेष – इसमें श्रमण संत द्वारा शाश्वत सुख बताने की असमर्थता तथा मोक्ष–दशा का वर्णन किया गया है। मोक्ष–दशा में तन, मन और वचनावली भी नहीं रहती है। यहाँ अलंकारिक भाषा–शैली का प्रयोग है।

(77)

क्षेत्र की नहीं,
आचरण की दृष्टि से
मैं जहाँ पर हूँ
वहाँ आकर देखो मुझे,
तुम्हें होगी मेरी
सही–सही पहचान
क्योंकि
ऊपर से नीचे देखने से
चक्कर आता है
और
नीचे से ऊपर का अनुमान
लगभग गलत निकलता है।
इसीलिए इन
शब्दों पर विश्वास लाओ,

हाँ, हाँ !!
विश्वास को अनुभूति मिलेगी।
अवश्य मिलेगी
मगर
मार्ग में नहीं, मंजिल पर।''

शब्दार्थ –मार्ग – रास्ता, मंजिल – लक्ष्य।

संदर्भ एवं प्रसंग– प्रस्तुत पद्यांश आचार्य विद्यासागर द्वारा रचित महाकाव्य ''मूकमाटी'' से उदधृत है। इसमें उस अवस्था का वर्णन है जब ह्रदय परिवर्तन के पश्चात आतंकी दल के लोग श्रमण संत से श्रमण साधना एवं मोक्ष अवस्था के संबंध में प्रत्यक्ष अनुभव बतलाने का निवेदन करते हैं।

व्याख्या – श्रमण संत उत्तर देते हैं कि मोक्ष–अवस्था का प्रत्यक्ष अनुभव करने वाला तन–मन और वचन से छुटकारा पा लेता है। अतः बताने के लिए संसार में रहता ही नहीं, साधना का अनुभव भी दूसरे को कठिन लगता है। अतः जिस मार्ग पर श्रमण चल रहे हैं उसे अपनाने पर ही श्रमण साधना की पहचान हो सकती है। श्रमण साधना का फल तो मंजिल पर पहुंचने पर ही परिचय में आ सकता है। जो व्यक्तिऊपर रहकर नीचे को देखना चाहता है उसे तो चक्कर ही आयेगा। किंतु जो नीचे रहकर ऊपर का अनुमान लगाता है, वह लगभग गलत निकलता है। मंजिल का प्रत्यक्ष अनुभव तो साधना के द्वारा मंजिल पर पहुंच जाने पर ही होगा।

विशेष – इसमें मोक्ष अवस्था का वर्णन है जिसमें तन–मन और बचन से छुटकारा हो जाता है। साधना ही लक्ष्य तक ले जाती है। यहाँ सरल भाषा तथा लक्षणा शक्ति का प्रयोग भावोत्कर्षक है।

दीर्घ प्रश्न

1. आचार्य विद्यासागर कृत 'मूकमाटी' के काव्य सौंदर्य पर प्रकाश डालिए।

उ. इकाई 4 से उत्तर देखें।

2. 'मूकमाटी' में कवि ने जीवात्मा, परमात्मा, संसार और मोक्ष के संबंध में क्या विचार व्यक्त किये हैं ? स्पष्ट कीजिए।

उ. ईकाई 5 से उत्तर देखें।

लघुउत्तरीय प्रश्न –

1. कवि ने गदहे के प्रतीक पात्र द्वारा दया के महत्व को किस प्रकार व्यक्त किया है ?

उ. गदहा एक समाज सेवी व्यक्ति का प्रतीक है जो दूसरे की सहायता करने में आत्म संतोष का अनुभव करता है। वह दूसरों के लिए कष्ट सहता है तथा जन्म जन्मान्तर में

दूसरों की सहायता तथा दूसरों के दुख हरण की कामना करता है। ईश्वर से भी यही प्रार्थना करता है कि वह दयालु और परोपकारी बना रहे जिससे उसे सुखानुभूति हो।

2. मोक्षार्थी जीवात्मा को उसकी माँ (आत्मसत्ता) ने सांसारिक दुखों से मुक्ति के लिए कौन सा मार्ग दिखाया ?

उ. मोक्षार्थी जीवात्मा की माँ (आत्मसत्ता) ने अपने पुत्र मोक्षार्थी को आत्मबोध का मार्ग दर्शाया है। जब जीव अपने अन्दर छिपी शक्तियों को पहचान जाता है तब वह सांसारिक दुखों से मुक्त हो जाता है। छिपी शक्तियों का बोध सदगुरू और सदग्रन्थों में विश्वास द्वारा होता है।

3. कवि ने मानव की धन लोलुपता के संबंध में क्या कहा है ?

उ. मानव स्वार्थ सिद्धी को जीवन में प्रथम स्थान देते हैं। इसके लिए वे धन द्रव्य को कुटुम्ब की तरह सगा मानते हैं। वे धन को सम्मान का आधार मानकर मुकुट की तरह सिर पर धारण करते हैं। उनके लिए धन ही सर्वस्व है।

4. आचार्य विद्यासागर ने आज के चिकित्सकों की प्रवृत्ति के बारे में क्या बताया है ?

उ. विद्यासागर ने बताया है कि चिकित्सकों में सेवा भावना का अभाव हो गया है। इनकी दृष्टि में धन कमाना ही एक मात्र लक्ष्य है। वस्तुतः चिकित्सा एक सेवा का क्षेत्र है। इसलिए धन का मोह नहीं होना चाहिए। कवि का विचार है कि चिकित्सा धन लोभ से दूर रहने का प्रयास करें। धन लिप्सा युक्त आजीविका कोधिक्कार है।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. मूकमाटी किसका प्रतीक है ?

(क) मोक्ष की इच्छुक जीवात्मा (ख) परमात्मा (ग) आत्मा (घ) जीव

2. मूकमाटी का मित्र किसे बताया गया है ?

(क) मछली **(ख) काँटा** (ग) कुंभकार (घ) लेखनी

3. वेतन वाले कम ध्यान देते हैं–

(क) घर की ओर **(ख) वतन की ओर** (ग) समाज की ओर (घ) परिवार की ओर

4. 'खसखस के दाने सा' बहुत छोटा होता है, बड़ का बीज वह'में कौन सा अलंकार है ?

(क) रूपक **(ख) उपमा** (ग) उत्प्रेक्षा (घ) यमक

5. निम्न पंक्तियों में कौन सा रस है ?

'परीषह उप सर्ग के बिना कभीस्वर्ग और अपवर्ग की उपलब्धि न हुई न होगी त्रैकालिक सत्य है यह !'

(क) श्रृंगार (ख) करूण **(ग) शांत** (घ) वीररस

———————